उठो! जागो!! अपने अन्दर निहित
देवत्व को व्यक्त करो।
वर्ष ३१ अंक ४
विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर

★ १९९३ ★

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

बार्षिक १५/

एक प्रति ५/

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २५२६९

अनुक्रमणिका

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३१) अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर १९९३ (अंक ४

भोगों की नश्वरता

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी चञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताब्जपटली लीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धसुलभे बुद्धिं विधध्वं बुधाः ॥

देहधारियों के विषय-भोग मेघमाला के बीच चमकती हुई तड़ित के समान चंचल हैं । मनुष्य की आयु हवा के झोकों के बीच कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद के समान क्षणभंगुर है । देहधारियों द्वारा यौवन का सुख भोगने की लालसा भी अनिश्चित है । बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इस पर विचार कर वह यथाशीघ्र धैर्य तथा एकाग्रता द्वारा सहजलभ्य योग में अपनी बुद्धि को नियोजित करे ।

भर्तृहरिकृत **वैराग्यशतकम्**-३५

अग्नि-मंत्र

(प्रोफेसर जॉन हेनरी राइट को लिखित)

शिकागो,

२ अक्टूबर, १८९३

प्रिय अध्यापक जी,

पता नहीं, मेरी इस लम्बी चुप्पी के बारे में आपने क्या सोचा होगा ! पहली बात तो यह है कि मैं अन्तिम समय में कांग्रेस में पहुँचा, जब वह आरम्भ होने ही जा रही थी, और वह भी बिना किसी तैयारी के ! इसी कारण मैं कुछ समय के लिए तो बहुत व्यस्त रहा। और दूसरी बात कि मुझे कांग्रेस में करीब करीब प्रतिदिन भाषण देना पड़ता था और पत्र लिखने का समय ही नहीं मिल पाता था। और अन्तिम तथा सबसे प्रधान बात, मेरे मित्र, यह थी कि मैं आपका इतना ऋणी हूँ कि जल्दबाजी में आपको व्यावसायिक पत्र जैसा कुछ लिखना आपकी अहैतुकी मैत्री का अपमान होता। कांग्रेस अब समाप्त हो गयी है।

प्यारे भाई ! विश्व के बड़े बड़े विचारकों और वक्ताओं की उस बड़ी सभा के सम्मुख मुझे पहले तो खड़े होने और बोलने में ही बड़ा डर लग रहा था लेकिन ईश्वर ने मुझे शक्ति दी और मैंने प्रतिदिन साहस (?) के साथ मंच और श्रोताओं का सामना किया। अगर सफल हुआ हूँ, तो उन्हीं की शक्ति से; और यदि मैं बुरी तरह असफल भी हुआ - इसका ज्ञान मुझे पहले से ही था - तो घोर अज्ञानी मैं था ही।

आपके मित्र प्रो. ब्रैडले तो मेरे प्रति बड़े कृपालु रहे और उन्होने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया। लेकिन आहा ! सभी लोग मुझ जैसे निरे नगण्य के प्रति इतने कृपालु हैं, जो वर्णनातीत है। लेकिन श्रेय तो उस परम पिता को है, जिसकी दृष्टि में भारत के

लेकिन श्रेय तो उस परम पिता को है, जिसकी दृष्टि में भारत के इस अकिंचन और अज्ञानी संन्यासी तथा इस महादेश के परम विद्वान धर्माचार्यों में कोई अन्तर नहीं है। और भाई, प्रभु किस प्रकार प्रतिदिन मेरी मदद कर रहा है – कभी कभी तो चाहता हूँ कि मुझे लाखों वर्षों की जिन्दगी मिल जाती और मलिन वस्त्रों में लिपटा, भिक्षापर निर्वाह करता हुआ कर्म के द्वारा मै उनकी सेवा करता रहता।

अहा ! मैं कितना चाहता था कि काश, आप यहाँ होते और भारत के कुछ मधुर व्यक्तियों को देखते। वक्ता मजूमदार और सुकुमार हृदय, बौद्ध भिक्षु धम्मपाल जैसे सौम्य व्यक्तियों को देखकर आपको यही अनुभव होता कि उस सुदूर और गरीब भारत में भी कुछ हृदय है, जो इस महान और शक्तिशाली देश में जन्मे आप जैसे हृदय के स्वरों में स्पन्दित है।

आपकी पुण्यशीला पत्नी के प्रति मेरा शाश्वत अभिवादन एवं बच्चों को मेरा प्यार और शुभकामनाएँ !

कर्नल हिगिन्सन ने मुझे बताया कि आपकी लड़की ने मेरे बारे में उनकी लड़की को लिखा था। वे बड़े उदार विचारों के व्यक्ति हैं और मेरे प्रति कृपाशील भी ! कल एवॉन्स्टन जाऊँगा और प्रो. ब्रैडले से वहाँ मिलूँगा।

ईश्वर हम सभी को पवित्र और शुद्ध बनाए, ताकि इस पार्थिव शरीर के त्यागने के पूर्व हम सभी पूर्ण आध्यात्मिक जीवन बिता सकें।

विवेकानन्द

(निम्नांश एक अलग कागज पर लिखा गया था।)

यहाँ मैं अपने जीवन से समझौता कर रहा हूँ। मैं जीवन भर हर परिस्थिति को प्रभु से आती हुई मानकर शान्तिपूर्ण ढंग

से अंगीकार तथा तदनुसार अपने को समायोजित कर लेता रहा हूँ। मैंने अमेरिका में जल के बाहर मछली की तरह अनुभव किया। मुझे भय था कि शायद मुझे कहीं परमात्मा द्वारा परिचालित चिर अभ्यस्त मार्ग छोड़ अपनी चिन्ता का भार स्वयं न लेना पड़े। लेकिन यह कितना वीभत्स और कृतघ्नतापूर्ण विचार था! अब मैं समझ रहा हूँ कि जिन ईश्वर ने मुझे हिमालय के हिमशिखरों पर और भारत की जलती भूमि पर पथ दिखलाया था, वे ही यहाँ भी मेरी सहायता कर रहे हैं। उन परम पिता की जय हो! अतः मैं अब चुपचाप अपने पुराने रास्ते पर फिर चल रहा हूँ। कोई मुझे भोजन और आश्रय देता है; कोई मुझे उनके बारे में बोलने को कहता है और मैं जानता हूँ कि वे उन्हीं के भेजे हैं, और आज्ञापालन करना मेरा काम है। और मेरी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति वही करते हैं। उनकी इच्छा पूर्ण हो!

"जो मुझ पर आश्रित है और अपने सारे अभिमान और संघर्ष का परित्याग करता है, मैं उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ।"[१]

ऐसा ही एशिया में है। ऐसा ही यूरोप में, ऐसा ही अमेरिका में और ऐसा ही भारत की मरुभूमि में भी। ऐसा ही अमेरिका के व्यापार के कोलाहल में भी है, क्योंकि क्या वे यहाँ भी नहीं हैं? और यदि यह न करें, तो मैं यही समझूँगा कि वे चाहते हैं कि मैं मिट्टी की इस तीन मिनट की काया को अलग रख दूँ – और मैं इसे सहर्ष त्याग दूँगा।

---

१. **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गीता॥ ९/२२॥

भाई, पता नहीं, हम लोग फिर मिल सकेंगे या नहीं। वे ही जानें। आप महान विद्वान और श्रेष्ठ हैं। मैं आपको या आपकी पत्नी को कुछ भी उपदेश देने का दुस्साहस नहीं करूँगा। पर आपके बच्चों के लिए मैं वेद के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ।

"चारों वेद, विज्ञान, भाषा, दर्शन एवं सभी विद्याएँ मात्र आभूषणात्मक हैं। सच्ची विद्या एवं सत्य ज्ञान तो वह है, जो हमें उसके समीप ले जाता हैं, जिसका प्रेम नित्य है।"

"वह कितना सत्य, कितना स्पृश्य एवं प्रत्यक्ष है, जिसके द्वारा हमारी त्वचा को स्पर्श का ज्ञान होता है, आँखें देखती हैं और संसार को उसकी वास्तविकता प्राप्त होती है।"

"उसको सुनने के पश्चात् कुछ भी सुनना शेष नहीं रहता। उसके दर्शन के बाद कुछ भी देखना बाकी नहीं बचता। उसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी चीज की प्राप्ति शेष नहीं रहती।"

"वह हमारे चक्षुओं का चक्षु है, कानों का कान है, आत्माओं की आत्मा है।"

मेरे प्यारे बच्चे, तुम्हारे पिता और माता से भी अधिक निकट वह है। तुम पुष्पों की भाँति निर्दोष और पवित्र हो ! तुम ऐसे ही रहो और किसीं दिन वह स्वयं प्रकट होगा। प्रिय आस्टिन, जब तुम खेल रहे होगे, तो तुम्हारे साथ एक दूसरा सायी भी खेलता होगा, जो तुमको किसी भी व्यक्ति से भी अधिक प्यार करता है। और ओह ! वह आमोद से परिपूर्ण है। वह सदा खेलता रहता है – कभी बहुत बड़े गेंदों से, जिन्हें हम पृथ्वी और सूर्य कहते हैं और कभी तुम्हारी ही तरह छोटे बच्चे के रूप में तुम्हारे साय हँसना और खेलता है।

उसको देखना और उसी के साय खेलना कितनी विचित्र बात है ! जरा सोचो तो इसे !

अध्यापक जी, अब मैं घूम रहा हूँ । केवल जब जब शिकागो आता हूँ, तो मैं श्री तथा श्रीमती ल्योन्स से बराबर मिलता हूँ । ये दोनों बहुत सम्भ्रान्त दम्पति हैं । आप श्री जॉन बी. ल्योन्स, २६२, मिशिगन एवेन्यू, शिकागो, के मार्फत ही मुझे पत्र देने की कृपा करेंगे ।

"जो अनेकत्वमय इस जगत में उस एक को प्राप्त कर लेता है – जो चंचल छायाओं के इस संसार में यदि कोई अचल सत्ता पा लेता है – मृत्यु के इस संसार में जो जीवन प्राप्त कर लेता है – मात्र वही यातना और कष्ट के इस सागर को पार करता है । उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं ।" (वेद)

"वेदान्तियों का जो ब्रह्म है, द्वैतवादियों का जो ईश्वर है, सांख्य में जो पुरुष है, मीमांसाशास्त्र का जो 'कारण' है, बौद्धों का जो धर्म है, नास्तिकों का जो 'शून्य' है और प्रेमियों के लिए जो असीम प्रेम है, वही हम सबकी अपनी दयापूर्ण छत्रछाया में रक्षा करे ।" यह उद्धरण द्वैतवादी नैयायिक महान दार्शनिक उदयनाचार्य के अद्‌भुत ग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' के मंगलाचरण का है । उस पुस्तक में उन्होंने श्रुति का आश्रय लिये बिना एक सगुण स्रष्टा और अमित प्रेमयुक्त नैतिक शासक के अस्तित्व की स्थापना का प्रयास किया है ।

आपका चिरकृतज्ञ मित्र,

विवेकानन्द

छुआछूत का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों ने अनुरोध पर उन्हें 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है । प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। – सं.)

भारत में सबसे बड़ा सामाजिक अपराध यदि कोई है, तो वह है छुआछूत। यह कब से और कैसे शुरू हुई यह पता लगाना कठिन है । पर लगता है कई शताब्दियों से छुआछूत की यह भावना हमारी समाज-देह में घुसी हुई है और हमें सतत खोखला बनाने की दिशा में कार्यशील है। हमारे यहाँ बड़े बड़े चिन्तक और मनीषी हुए, जिन्होंने हमारी इस बुराई को दूर करने का आजीवन प्रयत्न किया पर यह हमारा दुर्भाग्य है कि अब भी यह बुराई दूर नहीं हुई । इसका कारण यह लगता है कि भले ही कतिपय उच्चाशय महात्माओं ने इस 'सामाजिक कोढ़' को नष्ट करने का बीड़ा उठाया, पर हम संगठित रूप से इसके उन्मूलन की दिशा में प्रवृत्त न हो सके । स्वामी विवेकानन्द ने इस छुआछूत को 'मानसिक रोग' की संज्ञा दी है। यह बड़ी विडम्बना है कि एक ओर तो हम ईश्वर के सर्वव्यापित्व के गीत गाते हैं – यह कहते हैं कि वह आत्मतत्व सबके भीतर विद्यमान है और दूसरी ओर हम जन्म के आधार पर, जाति-पाति का भेद करते हुए, विशेषाधिकार की अपेक्षा रखते हैं। छुआछूत की भावना के पीछे विशेषाधिकार का भाव छिपा रहता हैं । अतएव विशेषाधिकार की भावना को समूल नष्ट करना होगा।

यह दलील दी जाती है कि छुआछूत और भेदभाव तो उन जातियों में भी विद्यमान है, जिनको भारत में निम्न माना जाता रहा है। इसका उत्तर यह है कि यह उन निम्न मानी जानेवाली जातियों को तथाकथित उच्च जातियों की ही देन है। ऊपर के लोग जैसा करते हैं, नीचे के लोग भी उसका अनुकरण करते हैं। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३ / २१

– अर्थात् श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते है, अन्य जन भी वैसा ही करते हैं। वे जो प्रमाण कर जाते हैं, लोग भी उसी का अनुवर्तन करते हैं। अतः यदि नीची मानी जानेवाली जातियों में परस्पर के लिए छुआछूत का भाव है, तो उसका दोष ऊँची मानी जानेवाली जातियों को ही हैं। छुआछूत का यह जहर तथाकथित उच्चवर्ण के लोगों के द्वारा ही समाज-देह में फैलाया गया है। कहावत है कि नाग के काटे का विष तभी दूर हो सकता है, जब वही नाग उस काटी हुई जगह में मुँह लगाकर अपने दिये विष को चूस ले। अतः उच्चवर्ण वालों का कर्तव्य है कि अपने छुआछूत के दिये विष को वे स्वयं चूसें और समाज-देह को स्वस्थता प्रदान करें।

हमने अपने संविधान में छुआछूत को कानूनी अपराध माना है। पर मात्र कानून के बल पर किसी अपराध या अशुभ को दूर नहीं किया जा सकता। जब तक हमारा हृदय अपराध को अपराध मानने के लिए तैयार नहीं है, तब तक अपराध को नष्ट नहीं किया जा सकता। यदि हम बुद्धिवादी हैं, तो हमें स्वीकार करना होगा कि जन्म के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में अन्तर करना बुद्धि की तौहीनी है। यदि हम अध्यात्मवादी हैं, तो मनुष्य –मनुष्य में भेद करना अध्यात्म के ही सिद्धान्तों को झुठलाना

है। यदि हम ईश्वर को मानते है, और यह भी स्वीकार करते हैं कि वह न्यायी है, तो मानव-मानव में जन्म के आधार पर भेद करना ईश्वर को अन्यायी सिद्ध करेगा। वास्तव में मनुष्य, जन्म के आधार पर बड़ा या छोटा नहीं होता, वह तो अपने स्वभाव, अपने गुणों और कर्मों के आधार पर ही उच्चता या लघुता प्राप्त करता है। यदि भेद का आधार जन्म को माना जाय तो विशेषाधिकार का भाव पैदा होता है, जो हमारे पतन का कारण रहा है। भेद का आधार तो वस्तुतः हमारा गुण और कर्म है। इसे समझ लेने पर पुरुषार्थ की भावना विकसित होगी और विशेषाधिकार का भाव खण्डित होगा।

स्वामी विवेकानन्द छुआछूत को एक भयानक खाई के रूप में देखते हैं, जिसमें भारतीय समाज गिर पड़ा है। वे हमें बचाने के लिए हमारा आह्वान करते हुए कहते हैं – "तुम, अपना जीवन 'मत-छुओवाद' के इस घोर अधर्म में मत खो बैठना। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात 'सभी प्राणियों को स्वयं अपनी आत्मा के समान देखो' — क्या यह उपदेश केवल पुस्तकों के भीतर ही रह जायेगा ? जो भूखे के मुँह में एक टुकड़ा रोटी नहीं दे सकते, वे मुक्ति कैसे देंगे ? जो दूसरों के केवल श्वास से ही अपवित्र हो जाते हैं, वे दूसरों को पवित्र कैसे बनाएँगे ? 'मत-छुओवाद' एक प्रकार का मानसिक रोग है। सावधान ! विकास ही जीवन है और संकीर्णता ही मृत्यु, प्रेम ही विकास है और स्वार्थपरता ही संकीर्णता अतः प्रेम ही जीवन का एकमात्र नियम है।" और यह प्रेम ही छुआछूत के सामाजिक कोढ़ से हमारी रक्षा कर सकता है।

दुर्गा-स्तव

बाबू श्याम सुन्दर खत्री

(खत्रीजी ने स्वामी विवेकानन्द की कई कविताओं का हिन्दी में काव्य रूपान्तरण किया है। उनके द्वारा रचित निम्नलिखित स्तव 'हिदू-पंच' नामक पत्रिका के १९२९ ई० के विजयांक में प्रकाशित हुआ, जहाँ से हम इसका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। इसे रावणकृत शिवताण्डव स्तोत्र के तर्ज पर गया जा सकता है। – स०)

अनादि - शक्ति - रूपिणी, अनन्त - बीज - अक्षरी।
समस्त - विश्वव्यापिनी, सुभुक्ति - मुक्ति - दायिनी॥
सुरासुरेन्द्र - सेविता, मुनीन्द्र - वृन्द - पूजिता।
मृगेन्द्र - पीठसंस्थिता, दुरन्त - दैत्य - नाशिनी॥१॥

सुवर्ण - कान्ति - उज्ज्वला, सुचारु - कृष्ण - कुन्तला।
जयन्ति - चारु - हासिनी, हिमाद्रि - राजनन्दिनी॥
विशाल - पद्म - लोचना, अनिन्द्य - चन्द्र - आनना।
त्रिलोक - वन्द्य - सुन्दरी, महेश - चित्त - रंजिनी॥२॥

त्रिलोक - शोक - हारिणी, भयार्त्त - भक्त - तारिणी।
अनन्त - रूप - धारिणी, स्वतः - दया - प्रसारिणी॥
त्रिशूल - चक्र - धारिणी, भवाटवी - विहारिणी।
जयन्ति - सांख्यकारिणी, भयापदा - निवारिणी॥३॥

महाश्मशान - वासिनी, जयन्ति अट्टहासिनी।
सुदीर्घ - रक्त - दन्तिका, कराल- काल- शर्वरी॥
अचिन्त्य- तेज- शालिनी, कपाल- जाल- मालिनी।
लयंकरी भयंकरी, प्रचण्ड - वेश शंकरी॥४॥

अयि प्रपन्न- तारिणी, अवर्ण्य हो, अचिन्त्य हो ।
विराट हो तथैव सूक्ष्म, इन्द्रियादि से परे ॥
अनादि वेद एक साथ, नेति-नेति गा रहे ।
समर्थ कौन जो अनन्त कीर्ति-वर्णना करे ॥ ५ ॥

विपन्न-भक्त-आपदा, न देख हो सकी कभी ।
अगेय है गुणावली, दयालुता अपार है ॥
विशेष-कष्ट-पीड़िता, जमी हुई वसुन्धरा ।
तभी तुरन्त दौड़ के हरा समस्त भार है ॥ ६ ॥

परन्तु देवि आर्य-देश पा रहा अशेष क्लेश ।
खा रहा प्रहार पै प्रहार बार बार है ॥
समृद्धि है, न शक्ति है, न शौर्य है, न सम्पदा ।
विपत्ति का न पार है, समीप मृत्यु-द्वार है ॥ ७ ॥

अनेक बार माँ ! तुम्हें बुला थके परन्तु हाय !
प्रार्थना अनाथ की कभी नहीं सुनी गई ॥
अदृष्ट रुष्ट क्यों हुआ ? कहो कठोर क्यों हुई ?
दया हुई न रंच क्या तुम्हें अहो दयामयी ! ॥ ८ ॥

प्रवीण पृथ्विराज ने, प्रताप वीरवर्य ने ।
बड़े विनीत भाव से सुपाद-पद्म था गहा ॥
विशेष और क्या कहें, अभाग्य का रहा प्रभाव ।
सर्वथा कृपा-कटाक्ष का अभाव जो रहा ॥ ९ ॥

कुमार सिंह वीरवर्य आदि साथ अन्त में,
बुन्देल-खण्ड-सिंहिनी पुकारने तुम्हें लगी ॥
परन्तु माँ ! विभोर घोर नींद में पड़ी रही ।
नहीं जगी, नही जगी, नहीं जगी, नहीं जगी ॥१०॥

उठो सुभक्त-वत्सले ! करावलम्ब दो हमें ।
लखो असह्य दुर्दशा, जघन्य दासता हरो ॥
उठो, तजो कठोरता, न कोप और यों करो
दयामयी ! दया करो, दया करो, दया करो ॥ ११ ॥

त्रिशुल खंग हाथ ले, प्रचण्ड युद्ध-वेश में ।
सजो अहो कपर्दिनी ! सुज्वाल-मालिका जगे ॥
करो कराल नृत्य एक बार और चण्डिके !
त्रिलोक काँपने लगे, दिगन्त रक्त से रंगे ॥१२॥

नीला वर्ण अनन्त का द्योतक है

कृष्ण को नीला चित्रित किया जाता है किसी भी ईश्वरीय और निःसीम वस्तु को नीले रंग से सम्बन्धित किया जाना एक प्राकृतिक नियम है । चुल्लू भर पानी लो, वह पूर्णतया वर्णहीन होता है । पर गम्भीर विस्तृत महासागर को देखो, वह नीला होता है । अपने निकट के आकाश का निरीक्षण करो, वह रंगहीन है । किन्तु आकाश के निःसीम विस्तार की ओर देखो, वह नीला है ।

– *स्वामी विवेकानन्द*

मानस-रोग (१९।२)

पं रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके उन्नीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय में अध्यापक हैं। -सं.)

अगर हम संसार के सन्दर्भ में कल्पना करें तो शायद वह साकार न हो, पर ईश्वर के सन्दर्भ में जब सन्तों ने कल्पना की तो उसे ईश्वर ने पूरा किया। अलग-अलग सन्तों ने और आचार्यों को जो अलग-अलग फल दिखाई दे रहा है, इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने जैसी भावना और कल्पना की, ईश्वर के द्वारा उसकी पूर्ति वैसी ही हुई। मनु के सन्दर्भ में साधना के इसी सत्य को प्रकट किया गया है। भगवान, मनु के सामने प्रकट नहीं हुए। उन्होंने मनु से पूछा – तुम क्या चाहते हो ? तो मनु ने पहला वाक्य यही कहा – मैं आपको देखना चाहता हूँ। फिर भी भगवान प्रकट नहीं हुए और उन्होंने मनु से पूछा कि तुम किस रूप में दर्शन चाहते हो ? इसका अभिप्राय क्या है ? यह कि ईश्वर में रूप और गुण की भावना और कल्पना का निर्णय तो हमें करना है, भक्त को करना है, ईश्वर का कार्य तो उसी को पूरा करना है। भगवान कहते हैं, निर्णय करने में मैं समर्थ नहीं हूँ, यह तुम्हें करना है। और तब मनु ने भगवान के लिए जो शब्द कहा वह बड़ा सार्थक है। मनु ने कहा –

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू ।१/१४६/१

– आप तो कल्पतरु हैं । हमारी जो कल्पना होगी उसे आप साकार कर देंगे । पर मनु ने उन्हें केवल सुरतरु ही नहीं, कामधेनु भी कहा । वैसे तो कल्पतरु और कामधेनु दोनों का गुण एक ही माना जाता है । दोनों ही कामनाओं और कल्पनाओं को पूरा करते हैं । तो यहाँ कल्पतरु के साथ कामधेनु कहने की क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता यह है कि यहाँ प्रार्थना करनेवाले दो हैं – मनु और सतरूपा । एक पुरुष और एक स्त्री । तो जहाँ मनु ईश्वर की कल्पना पुरुष के रूप में करते हैं, वहाँ तो वे कल्पतरु हैं और जहाँ सतरूपा उन्हें आदिशक्ति के रूप में, नारी रूप में कल्पना करती हैं, वहाँ वे कामधेनु हैं । ईश्वर पुरुष हैं या नारी ? तो वे तो जहाँ एक ओर कल्पतरु हैं, पुरुष हैं ; वहीं दूसरी ओर कामधेनु हैं, नारी हैं । जिसकी जैसी भावना । आप जो चाहें कल्पना कर लीजिए, उसे पूरा करना उनका स्वभाव है । इसलिए मनु बता देते हैं कि हमें तो ऐसा ईश्वर चाहिए । कैसा ? –

जो सरूप बस सिव मन माहीं ।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा ।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥ १/१४६/४-६

– "जो स्वरूप शिवजी के मन बसा हुआ है, जिसे पाने के लिए मुनि लोग प्रयास किया करते हैं । जो काकभुसुण्डि के मन रूपी सरोवर में विहार करनेवाले हंस हैं, सगुण और निर्गुण कहकर वेद जिनकी प्रशंसा करते हैं, हे शरणागत के दुख दूर करने वाले प्रभु, कृपा कीजिए, उस रूप को हम नेत्र भरकर देखना चाहते हैं ।" और तब परिणाम क्या हुआ ? –

दंपति बचन परम प्रिय लागे।
मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे॥
भगत बछल प्रभु कृपानिधाना।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥ १/१४६/७-८

– भगवान सामने प्रकट हो गये। मनु ने जिस रूप में कहा, उसी रूप में प्रकट हो गये। या यों कहें कि मनु ने उन्हें जिस रूप में स्वीकार किया, भगवान उसी रूप में प्रकट हो गये। इसे ईश्वर के सन्दर्भ में कहें या जीवन के किसी क्षेत्र के सन्दर्भ में, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' – एक ही सत्य को विद्वानों ने विविध रूपों में वर्णन किया है – इस सत्य को जान लेने के बाद अन्ततोगत्वा हमें अपने लिए किसी एक का वरण कर लेना पड़ता है। और उसी पद्धति के अनुकूल, जैसा कि गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में कहा है; उनसे पूछा गया – महाराज, कौन सा पुराण ठीक है? कौन सा शास्त्र ठीक है? कौन से मुनि ठीक हैं? गोस्वामीजी ने बड़ी मधुर बात कही। बोले —

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि
जहाँ-तहाँ झगरो सो।

– यदि सब की बातों को पढ़ें तो ऐसा लगता है कि इनमें तो परस्पर बड़ा झगड़ा है। तो फिर क्या करें? क्या यह सब छोड़ दें? सबको अस्वीकार कर दें? उन्होंने कहा – नहीं –

गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि
लगत राज डगरो सो॥ वि.प.१७३/५

– बस, गुरुजी ने कह दिया कि तू राम नाम लिया कर। मुझे तो लगा कि यही मेरे लिए राजमार्ग है। मैं इसी राजमार्ग से चल पड़ा। इसका अभिप्राय यह है कि आप विवेकपूर्वक इस सत्य को जान लें और आग्रह में न पड़ें कि इनमें से सत्य कौन सा है, बल्कि इस दृष्टि से विचार करें कि सत्य का कौन सा रूप हमारे

लिए व्यक्तिगत रूप से और सामाजिक रूप से कल्याणकारी है और उसी को हम जीवन में स्वीकार कर लें।

ये जो व्यक्ति की समस्याएँ हैं, इनके सन्दर्भ में भी अलग-अलग केन्द्रों से विचार किया गया है और व्यक्ति तथा समाज को स्वस्थ बनाने के लिए ज्ञानियों ने एक भिन्न केन्द्र से समाज की स्वस्थता का उपाय बताया; फिर भक्तों ने दूसरी पद्धति से, कर्म-योगियों ने तीसरी पद्धति से और पातंजल योगसूत्र ने चौथी पद्धति से इस पर चर्चा की। इस प्रकार ये जो अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं, उनको केन्द्र बनाकर अगणित प्रकार से व्यक्ति की स्वस्थता के लिए अलग-अलग उपाय बताये गये।

इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जब ज्ञानी से पूछा गया कि व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या क्या है ? व्यक्ति के पुनर्निर्माण का उपाय क्या है ? तो उन्होंने कहा कि व्यक्ति की बुद्धि में जब तक भ्रम है और जब तक भ्रम का निवारण नहीं होगा, जब तक व्यक्ति में विवेक जाग्रत नहीं होगा, तब तक व्यक्ति भटकता रहेगा, परमानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकेगा। इसलिए उन्होंने कहा – अन्तःकरण में सर्वोच्च केन्द्र बुद्धि का है और इसे ही ज्ञानदीपक के रूप में शोधन करके आप अपनी बुद्धि को परिवर्तित करें और उस शुद्ध बुद्धि के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करें। हमारे अन्तःकरण में जो ग्रन्थियाँ पड़ गई हैं, उन ग्रन्थियों से हम इस बुद्धि के द्वारा मुक्त हो जायँ। इस तरह ज्ञानियों ने बुद्धि को केन्द्र बनाकर विचार किया। उन्होंने कहा कि समस्या का समाधान बुद्धि में है। और जो योगी थे, उन्होंने समस्या का केन्द्र स्वीकार किया चित्त को। ये सब अन्तःकरण चतुष्टय में अलग-अलग केन्द्र चुने गये। उन्होंने कहा कि व्यक्ति बहुत सी बातों के बारे में समझ लेता है कि ये बातें ठीक नहीं हैं। भाषण में जब कोई बहुत सुन्दर तार्किक पद्धति से कोई बात कहता है,

तो सुनकर लगता है कि उनकी बात बिलकुल ठीक है। लेकिन ठीक लगते हुए भी, समझ में आ जाने के बाद भी, वह जाना हुआ सत्य जीवन में क्यों नहीं उतर पाता ? तो इसका उत्तर विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी दूसरे केन्द्र से भी देते हैं। वे कहते हैं –

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि
कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित,
अधिक अधिक लपटाई॥ वि.प.८२/१

– यहाँ पर उन्होंने चित्त को केन्द्र बताया। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की बुद्धि और चित्त में द्वन्द्व है। बुद्धि के द्वारा हम कुछ बातों को समझना चाहते हैं, स्वीकार करना चाहते हैं; पर चित्त वह है, जहाँ पर हमारे सारे संस्कार, पूर्व पूर्व जन्मों में किए हुए कर्मों के संस्कार संग्रहित हैं। वे जो पूर्व जन्मों के अभ्यास और संस्कार हैं और यह जो वर्तमान में बुद्धि के द्वारा जाना गया सत्य है, उनमें टकराहट होती है और उस टकराहट में बुद्धि, जो इस जीवन में सत्य को समझ गयी है, चित्त के संस्कारों और अभ्यासों के सामने परास्त हो जाती है। इसे रामचरितमानस में अनेक पद्धतियों से कहा गया है। गोस्वामीजी यहाँ चित्त को केन्द्र बनाकर कहते हैं। योग की शैली क्या है ? ज्ञान की शैली है, बुद्धि का शोधन। योग की शैली है – 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।' उन्होंने कहा कि जब तक चित्त संस्कारों की वृत्तियों से भरा रहेगा, जब तक हम चित्त को संस्कारों से शून्य नहीं कर लेंगे, तब तक हम कितना भी सुन लें, समझ लें, पर उसे जीवन में नहीं उतार पाएँगे –

सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय
दसा हृदय नहिं आवै। वि.प.११६/३

इस तरह योग का केन्द्र चित्त है।

कर्मयोग में धर्म का केन्द्र अहंकार है। धर्म में जो हम वर्ण और आश्रम धर्म देखते हैं उसका केन्द्र है व्यक्ति का अहंकार। कर्म सिद्धान्त में कहा गया कि व्यक्ति में 'मैं' स्वाभाविक है। यह 'मैं' ही सारी समस्या का मूल है। इसे छोड़ना होगा। पर कहना जितना आसान है, 'मैं' को छोड़ना उतना आसान नहीं। तब कहा गया कि अगर न छूटे तो उसका सदुपयोग करना चाहिए। उस मैं को धर्म की दिशा में मोड़ दिया जाय। उसे एक धार्मिक मैं, एक वर्णाश्रम धर्म के 'मैं' में परिवर्तित कर दिया जाय ताकि उस 'मैं' का, 'मैं' ब्रह्मचारी हूँ', ऐसा मानकर ब्रह्मचर्य में उसकी निष्ठा हो। 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसा मानकर संन्यास में, त्याग में उसकी निष्ठा हो। इसलिए धर्म का केन्द्र 'मैं' है, जहाँ उसके सदुपयोग के द्वारा समाज को सुव्यवस्थित बनाने की चेष्टा की गयी। ये सभी क्रम कहीं न कहीं ठीक हैं।

रामायण में समन्वय और सामंजस्य है। जब मैं श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की जीवनी पढ़ता हूँ तो रामचरितमानस के विविध प्रसंग, जहाँ पर सामंजस्य के दर्शन होते हैं, मेरे ध्यान में आते हैं। गोस्वामीजी ने सामंजस्य को स्वीकार किया। रावण सारी समस्याओं का घनीभूत रूप है। उसमें मनोजन्य, बुद्धिजन्य, चित्त के संस्कारजन्य तथा अहंकारजन्य चारों प्रकार की समस्याएँ विद्यमान हैं और चारों का केन्द्र भी। रावण का सिर कट जाता है, पर वह मरता नहीं। सिर एक केन्द्र है, बुद्धि का केन्द्र। सिर में ही मस्तिष्क है और मस्तिष्क से ही मनुष्य विचार करता है। सिर कटना महत्वपूर्ण है। सिर कटने से व्यक्ति मर जाता है। पर रावण नहीं मरता। क्यों नहीं मरता ? और सिर कटने पर नहीं मरा तो कैसे मरेगा ? इसका अलग अलग उत्तर रामचरितमानस में दिया गया है। रावण के हृदय पर प्रहार होगा, तभी वह

मरेगा । जब रावण की नाभि में प्रहार होगा तब वह मरेगा । अलग अलग प्रसंगों में अलग अलग उत्तर है । त्रिजटा से सीताजी पूछती हैं – रावण सिर कटने पर भी क्यों नहीं मरता ? त्रिजटा कहती है, रावण केवल सिर काटने से नहीं मरेगा । सिर के साथ उसकी भुजाएँ भी कटेंगी और हृदय पर भी प्रहार होगा, तब वह मरेगा । यही है सामंजस्य ।

सिर कटना माने ? बुद्धि की नासमझी, भ्रम, मोह । अगर समाज और व्यक्ति की बुराई को मिटाना है तो उसकी नासमझी, भ्रम तथा मोह को काट देना होगा । लेकिन समस्या यह थी कि जब भगवान राम रावण का सिर काटते थे, तो ऐसा नहीं कि उसका कोई प्रभाव न होता हो, रावण का सिर कटकर गिर जाता था, पर अगले ही क्षण बड़ा आश्चर्यजनक दृश्य सामने आता था । रावण का नया सिर निकल आता था । और हमारे आपके जीवन का भी यही अनुभव है । बुद्धि से समझ लिया, लेकिन कथा से उठकर बाहर गये नहीं कि रावण का सिर ज्यों का त्यों फिर निकल आया ।

त्रिजटा ने कहा कि सिर के साथ भुजा भी कटे । इसका अभिप्राय क्या है ? भुजा क्या है ? भुजा कर्म केन्द्र है । सिर विचार का केन्द्र है । समाज में लोगों का विचार-परिवर्तन होना चाहिए, यह है रावण का, मोह का सिर कटना और आचरण-परिवर्तन हो जाय, इसका प्रतीक है भुजा काटना । लेकिन जैसे रावण के सिर काटने से फिर से सिर निकल आते थे, वैसे ही भुजाएँ काटने पर फिर से भुजाएँ निकल आती थीं । इसीलिए त्रिजटा ने कहा था कि केवल सिर या भुजाएँ काटने से नहीं, इनके साथ ही हृदय पर भी प्रहार करना होगा, तब रावण की मृत्यु होगी । और आगे चलकर बड़ा अनोखा प्रसंग आ गया । भगवान राम रावण को मारते-मारते थक गये, पर रावण मरता

ही नहीं। भगवान भी अभिनय में दिखाते हैं कि यह युद्ध कितना कठिन है। यह बुराइयों के प्रति संघर्ष कोई एक क्षण में समाप्त होनेवाली प्रक्रिया नहीं है। यह सतत निरन्तर चलते रहनेवाली प्रक्रिया है। इसे हम यह न समझ लें कि एक दिन कोई हवन-पूजन-अनुष्ठान कर दे और सारी समस्या का समाधान हो जाय। वह तो एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, जीवन भर की समस्या है। भगवान राम स्वयं इस नरलीला में थककर विभीषण की ओर देखते हैं। मस्तक पर पसीने की बूँदें आ जाती हैं।

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा।
राम विभीषण तन तब देखा॥ ६/१०२/२

पार्वतीजी कथा सुन रही थीं। उन्होंने बड़े आश्चर्य से शंकरजी की ओर देखा। उन्होंने कहा – आपका ईश्वर तो बड़ा अनोखा है, उसे जीव से पूछना पड़ रहा है कि रावण कैसे मरेगा। शंकरजी ने कहा –

उमा काल मर जाकीं ईछा।
सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा॥ ६/१०२/३

भगवान तो जीव की परीक्षा लेना चाहते थे कि तुम प्रार्थना तो करते थे कि रावण को मार दीजिए, पर क्या तुम वास्तव में चाहते हो कि यह मरे? यही हमारे जीवन का भी सत्य है। प्रार्थना तो हम लोग भगवान से नित्य करते हैं कि भगवान, बुराई को मिटाइए। पर क्या हम सच्चे अर्थों में इस प्रार्थना को साकार देखना चाहते हैं? जब हम भगवान से कहते हैं कि आप मेरी माता हैं, आप मेरे पिता हैं, आप मेरे मित्र हैं –

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥ प्रपन्न गीता/२८

इस पर भगवान यदि कहें कि अच्छी बात है । चलो, हम तुम्हारे माता, पिता, बन्धु, मित्र, धन, विद्या सब छीनकर, हमीं तुम्हारे सब बन जाते हैं, तो कितने लोग इसके लिए राजी होंगे ? तात्पर्य यह है कि कहीं न कहीं हमारी प्रार्थना में अन्तर्द्वन्द्व है । यहाँ भगवान विभीषण की परीक्षा ले रहे हैं – रावण मर नहीं रहा है, तुम कुछ बोल नहीं रहे हो । जानते हुए भी चुप हो । अपनी समस्या को जीव समझता है । और जब ईश्वर और जीव का मिलन होता है तभी समस्या का समाधान होता है । यह सामंजस्य रामायण में बताया गया है । आगे चलकर मानस-रोगों की चिकित्सा बताते हुए भी गोस्वामीजी इन दोनों का सामंजस्य दिखाते हैं –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा ।
जौं एहि भाँति बनै संयोगा ॥ ७/१२२/५

इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति का प्रयत्न, उसकी तीव्र आकांक्षा और भगवान की कृपा, दोनों का जब सामंजस्य होता है, तभी समस्या का समाधान होता है । इन दोनों में अगर एक की भी कमी रह जाय, व्यक्ति के जीवन में अगर केवल भगवान की कृपा कहने की वृत्ति आ जाय, तो उसमें तमोगुण, आलस्य और निष्क्रियता की वृत्ति भी आ जाएगी और अगर उसमें केवल पुरुषार्थ की वृत्ति आ जाय तो उसके अन्तःकरण में अभिमान की वृत्ति भी आ जाएगी । निष्क्रियता और अभिमान – इन दोनों से बचने का उपाय यह है कि पुरुषार्थ व्यक्ति के तमोगुण को दूर करे और भगवान की कृपा उसके अभिमान का नाश करे और इस तरह जीवन में एक सामंजस्य स्थापित हो ।

भगवान राम विभीषण से पूछते है - विभीषण, बताओ कि रावण कैसे मरेगा ? बड़ी विचित्र शैली है गोस्वामीजी की । लोग

तो इस बात का बड़ा ध्यान रखते हैं कि आगे-पीछे की बात एक दूसरे से कटनी नहीं चाहिए। इस दृष्टि से तो गोस्वामीजी को विभीषण के द्वारा वही उत्तर दिलावाना चाहिए था, जो त्रिजटा ने सीताजी को दिया। पर बड़ी अद्भुत बात है, जो उत्तर त्रिजटा ने सीताजी को दिया, वही विभीषण ने भगवान राम को नहीं दिया। उन्होंने यह नहीं कहा कि आप रावण के हृदय पर प्रहार करेंगे, तब रावण की मृत्यु होगी। बल्कि उन्होंने एक नयी बात कह दी। इसका अभिप्राय क्या है ? मानो गोस्वामीजी बताना चाहते हैं कि त्रिजटा का सत्य भी सत्य है और विभीषण का सत्य भी सत्य है। इन सब में कोई न कोई सामंजस्य है। इनमें से किस केन्द्र के माध्यम से हम रावण की मृत्यु को मुख्यता देते हैं, इसका निर्णय हम स्वयं अपनी साधना-पद्धति से करें। अन्त में सब का सामंजस्य तो होना ही है।

भगवान राम विभीषण से पूछते हैं – बताओ, रावण कैसे मरेगा ? इसके उत्तर में विभीषण ने न तो सिर को केन्द्र बताया और न हृदय को। उन्होंने तो नाभि को केन्द्र बताया। वे बोले - महाराज, रावण की नाभि में अमृतकुण्ड है। और जब तक यह अमृतकुण्ड नहीं सूखेगा, तब तक रावण न तो सिर काटने से मरेगा, न भुजा काटने पर, बल्कि हर बार उसके सिर तथा भुजाएँ उत्पन्न होती जाएँगी।

हृदय के केन्द्र से परिवर्तन होगा, इसका संकेत सीताजी के सन्दर्भ में है। और इसका कारण यह है कि सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं। त्रिजटा और सीताजी का संवाद भक्ति के सन्दर्भ में है। भक्तिशास्त्र की मान्यता यह है कि हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही मोह का विनाश होगा। इसलिए वहाँ पर हृदय को केन्द्र बनाकर बात कही गई। और यहाँ संवाद अखण्ड-ज्ञानघन भगवान और जीवरूपी विभीषण के बीच है। नाभिकुण्ड का अभिप्राय क्या है ?

यही संस्कारों का अमृतकुण्ड है। साधक जिन बुराइयों को मिटाना चाहता है, वे फिर से नये सिरे से रावण की सृष्टि करने में समर्थ होती हैं, इसीलिए विभीषण भगवान से कहते हैं – आप उसकी नाभि पर वाण का प्रहार कर उसके अमृतकुण्ड को सुखा दीजिए। यह योग का मार्ग है। योगाग्नि के द्वारा चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, वह निर्विकल्प हो जाता है। चित्त का निर्विकल्प हो जाना ही रावण की मृत्यु है। इस निर्विकल्पता में ही रावण का तेज निकलकर भगवान में समा जाता है। इस तरह से इन अलग-अलग प्रसंगों में अलग-अलग रूपों में एक ही समस्या के भिन्न-भिन्न समाधान प्रस्तुत किए गये हैं। और ये सभी समाधान बड़े उपयोगी हैं। पर मुख्य बात यही है कि इनमें से कौन सी चिकित्सा-पद्धति हमारे लिए ठीक है, हम कहाँ से प्रारम्भ करें, इसका चुनाव हमें करना है। चुनाव कैसे करें ?

कई लोगों के मन में पद्धति के प्रति इतना अधिक आग्रह हो जाता है कि वह भी एक समस्या बन जाती है। इसका एक सूत्र है और वह बड़ा महत्वपूर्ण है। सूत्र क्या है ? सामंजस्य– बीचवाला रास्ता, यही सबसे सुन्दर मार्ग है। आग्रह ही नहीं होगा तो साधना आगे नहीं बढ़ेगी, पर आग्रह का अतिरेक भी कभी-कभी व्यक्ति को सत्य से वंचित कर देता है। जैसे किसी रोगी को किसी एक चिकित्सा-पद्धति के प्रति ही इतना अधिक आग्रह हो जाय कि उस पद्धति से लाभ न होने पर भी वह उसे न छोड़े, तो यह तो रोग से भी बड़ी समस्या है। मुख्य लक्ष्य क्या है ? स्वस्थता। तो पद्धति के चुनाव के लिए सबसे बड़ी कसौटी क्या है ? यही कि जिस पद्धति से हमें स्वस्थता लाभ हो वही पद्धति हमारे लिए ठीक है। शास्त्र या किसी व्यक्ति कहने से कि यह पद्धति श्रेष्ठ है, कोई आवश्यक थोड़े ही है कि वह सबके लिए समान रूप से लाभदायक हो। इसीलिए गोस्वामीजी

विनयपत्रिका में कहते हैं –

भगति-ग्यान बैराग्य सकल
साधन यहि लागि उपाई। ११९/२

गोस्वामीजी से पूछा गया कि ये सब जितने उपाय कहे गये हैं, इनमें सही कौन सा है ? उन्होंने कहा – सब सही हैं , सभी सत्य हैं । वैसे तो प्रचलित मान्यता यही है कि सत्य एक है । पर गोस्वामीजी विनयपत्रिका में कहते हैं –

सब सत्य झूँठ कछु नाहीं। ११६/५

– सब सत्य हैं । झूठ तो कुछ है ही नहीं । मैं यह मानता हूँ कि समस्त ऋषि-मुनियों का, समस्त आचार्यों का अनुभव सत्य है । विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों के द्वारा अगणित लोग स्वस्थ हो रहे हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियों से लोग स्वस्थ हो रहे हैं तो हम कैसे कहें कि यह पद्धति वैज्ञानिक है और यह अवैज्ञानिक ।

अहंकार को केन्द्र बनाकर समाज को स्वस्थ बनाने की पद्धति धर्म की पद्धति है । बुद्धि को केन्द्र बनाकर समाज की स्वस्थता - यह ज्ञान की पद्धति है । चित्त को केन्द्र बनाकर - यह योग की और भक्ति की ? हृदय और मन को स्वस्थ बनाकर समाज को स्वस्थ बनाने की जो प्रक्रिया है, यही भक्ति की प्रक्रिया है । इसका सांकेतिक रूप गोस्वामीजी ने रामचरितमानस मैं बहुत ही मधुर पद्धति से प्रस्तुत किया है । उन्होंने मानस में भगवान राम के विविध चित्र प्रस्तुत किये, जो बड़े मधुर और आकर्षक हैं। लेकिन जब भगवान राम ने उनसे पूछा कि इन सारी पद्धतियों में, सारे रूपों में हमारा कौन सा रूप तुम्हें सबसे अधिक प्रिय है, तो गोस्वामीजी ने धीरे से अपना पक्षपात प्रकट कर दिया। भगवान राम जब लंका में आकर सुवेल शैल पर आसीन

हुए तो गोस्वामीजी ने उनका एक चित्र प्रस्तुत किया और उसके साथ अपना पक्षपात जोड़ दिया। वे कहने लगे –

एहि बिधि कृपा रूप गुन धाम रामु आसीन।
धन्य ते नर एहिं ध्यान जे रहत सदा लयलीन॥ ६/११(क)

– धन्य हैं वे लोग, जो भगवान के इस ध्यान में डूबे हुए हैं। गोस्वामीजी से भगवान पूछ सकते हैं कि मिथिला की इतनी मधुर झाँकी, चित्रकुट का इतना सुन्दर वेश, उनके साथ तुमने यह शब्द नहीं जोड़ा, इस लंका की झाँकी में ऐसा कौन सा आकर्षण है जो तुमने ऐसा कह दिया ? गोस्वामीजी ने कहा – महाराज, मेरे सामने एक ही समस्या है। क्या ? अगर अयोध्या की झाँकी हृदय में लाना चाहें, तो पहले हृदय को अयोध्या बनाना पड़ेगा। अगर मिथिला की झाँकी, दूल्हे के रूप में आपको लाना चाहें, तो हृदय को पहले मिथिला बनाना पड़ेगा। अगर चित्रकूट की झाँकी लाना चाहें, तो उसे चित्रकूट बनाना होगा। तो हृदय को अयोध्या, मिथिला या चित्रकूट बनाना तो कठिन है। पर जब से मैंने सुना है कि आप लंका में भी आ सकते हैं, तो हृदय को लंका बनाना नहीं है, वह तो बनी-बनाई पड़ी है, इसलिए मैं सोचता हूँ कि हमारे लिए यही झाँकी अच्छी है।

यहाँ पर संकेतसूत्र यह है कि अयोध्या में तो भगवान दशरथजी के आग्रह पर आए है, मिथिला में जनकजी के आग्रह पर और चित्रकूट में वे महर्षि वाल्मीकि के आग्रह पर निवास करते हैं। एक भक्तियोगी, एक ज्ञानयोगी और एक कर्मयोगी के आग्रह पर। उन तीनों स्थानों में भगवान तीन योगियों की प्रार्थना पर पधारे हैं। लेकिन गोस्वामीजी ने कहा – मैं तो सोचता हूँ कि लंका की भूमि ही हमारे लिए सुगम है क्योंकि आप वहाँ बिना बुलाए चले आते हैं। निमंत्रण और प्रार्थना तो दूर, वहाँ का राजा तो चाहता है कि आप वहाँ घुस भी न सकें।

परन्तु आप घुसकर बैठ गये। हमारे हृदय से भी निमंत्रण, प्रार्थना, आग्रह की आशा मत कीजिए, घुसकर बैठ जाइए, तभी हमारा कल्याण हो सकता है। नहीं तो हमारे कल्याण की कोई आशा नहीं है। पर इसमें भगवान से व्यंग्य कितना सुन्दर है। लंका में तीन शिखर हैं। दो पर रावण का अधिकार है। केवल एक शिखर खाली है। यही हम लोगों की दशा है। हमारे भीतर दो तिहाई पर तो रावण का अधिकार है ; एक तिहाई सुवेल पर्वत खाली है। अब यदि भगवान कृपा कर आएँ और बैठ जाएँ, तभी कल्याण है।

इसका सांकेतिक अभिप्राय और जो साधना के सन्दर्भ में विशेष रूप से समझ लेने योग्य है, वह यह कि भगवान राम को जब कोई बुलाता है तो उसके लिए आसन की व्यवस्था करता है। अयोध्या में भगवान का आसन है – सिंहासन। जब रामराज्य बनता है तब भगवान सिंहासन पर बैठते है। मिथिला में महाराज जनक ने उन्हें वरासन पर बिठाया। और चित्रकूट में जनकनन्दिनी सीताजी ने वट वृक्ष की छाया में बड़ी सुन्दर वेदी बनाकर उस पर कुशासन बिछाया, जिस पर भगवान राम विराजमान हैं। यह बड़ी सांकेतिक भाषा है। सिंहासन धर्म का आसन है। यहीं से रामराज्य का संचालन होता है। वरासन ज्ञान का आसन है। महाराज जनक महान तत्त्वज्ञ हैं, उनके लिए ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, सर्वश्रेष्ठ ही वरणीय है। और चित्रकूट में जो वेदी है वह साक्षात् भक्तिदेवी की बनाई हुई है। इन तीन स्थानों पर ये तीन आसन हैं। लेकिन लंकावाला आसन ? न सिंहासन, न वरासन और न कुशासन – यहाँ तो भगवान को लक्ष्मण के कान में कहना पड़ा कि लंका चलना है आसन भी साथ ही ले चलें। वहाँ हमें कोई आसन देनेवाला नहीं है। लेकिन गोस्वामीजी ने यहाँ पर साधना की एक बड़ी ही मार्मिक और तात्त्विक व्याख्या

की है –

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा।
उतरे सेन सहित अति भीरा॥
सिखर एक उतंग अति देखी।
परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी॥
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए।
लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला।
तेहि आसन आसीन कृपाला॥ ६/११/१-४

यहाँ पर भगवान के आसन के लिए स्थान का चुनाव किया लक्ष्मणजी ने। एक शिखर पर जहाँ पर कुछ समतल भूमि दिखाई पड़ी। बड़ी सांकेतिक भाषा है। जहाँ पर शिखर है वहाँ पर समता ढूँढ़ना तो कठिन ही है। लेकिन लक्ष्मणजी ढूँढ़ लेते है। यही नहीं, लंका कितनी भी बुरी क्यों न हो, कहीं न कहीं कोई कोना अच्छा मिल ही जाता है। प्रत्येक व्यक्ति की यही स्थिति है। भले ही हमारे अन्तर्जीवन पर रावण का शासन हो, दुर्गुणों का शासन हो, पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीवन का कोई कोना खाली न पड़ा हो। लंका का यह सुवेल शैल सत्त्व का शिखर है। जिन तीन शिखरों पर लंका बसी हुई है, वे हैं – सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के शिखर। रजोगुण और तमोगुण के शिखरों पर रावण सक्रिय है और सत्त्व का शिखर खाली पड़ा है। रावण ने इसे व्यर्थ समझकर छोड़ रखा है। इसका अभिप्राय यह है कि रावण शासित जीवन या तो रजोगुण द्वारा सचालित है, अथवा तमोगुण द्वारा। सत्त्व भी वहाँ पर है, भले ही वह सक्रिय न हो। उस सत्त्व में लक्ष्मणजी कहीं न कहीं समतल भूमि खोज लेते हैं और उस पर भगवान के लिए आसन बिछाते है। पहले सुन्दर कोमल कोमल पत्ते बिछाते हैं। पत्तों के

ऊपर फूल की पंखुड़ियाँ बिखेरते हैं और उसके ऊपर मृगचर्म बिछाते हैं – "तेहि आसन आसीन कृपाला ।" – उसी आसन के ऊपर भगवान राम आसीन हैं । सिंहासन तो धर्म का आसन है, वरासन ज्ञान का और कुशासन भक्ति का, पर यह मृगचर्म ? यह कौन सा आसन है ? यह जो हमारे आपके जीवन में बड़ी गहराई से जुड़ा हुआ सत्य है, उसे गोस्वामीजी ने मृगचर्म के माध्यम से प्रगट किया । यह मृगचर्म कौन सा है, कहाँ से आया ? वस्तुतः यह मारीच का चमड़ा है जिसे लक्ष्मणजी ने भगवान के लिए बिछाया और जिस पर भगवान बैठे हुए हैं । मानो भगवान का संकेत यह है कि चलो, लंका में रावण ने आसन भले न दिया हो, पर मारीच को भेजा तो उसी ने था । तो उससे जो आसन बना, लंका में उसी आसन पर भगवान बैठे हैं । यह मारीच कौन है ? मारीच वस्तुतः व्यक्ति के घोर तमोमय चंचल मन का प्रतीक है, जो रावण के शासन में रहता है । ऐसा मन, जो मोह के वशीभूत हो । बड़ी विचित्र बात है । मन के साथ यह बड़ी विडम्बना है । मारीच अच्छा है या बुरा ? गोस्वामीजी का काव्य बड़ा अनोखा है । इस प्रसंग में एक ओर तो इतनी ऊँची भाषा का प्रयोग करते हैं, उसके लिए लिखते हैं –

अंतर प्रेम तासु पहिचाना ।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना ॥ ३/२७/१७
मन अति हरष जनाव न तेही ।
आजु देखिहउँ परम सनेही ॥ ३/२६/८

– परम सनेही ! परम प्रिय ! क्या मारीच इतना ऊँचा भक्त है, इतना बड़ा भक्त है ? और दूसरी ओर क्या लिखते हैं ? भगवान राम जब मारीच को मारकर लौटने लगे तो –

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा ॥ ३/२८/१

– दुष्ट को मारकर भगवान लौटे। बड़ी विचित्र बात है। पर गोस्वामीजी ऐसी परस्पर-विरोधी विचित्र बातें कहकर हमीं लोगों के मन का परिचय दे रहे हैं। मन को प्रेमी कहें कि दुष्ट कहें? भाई, यह दोनों ही है। कभी तो यह भगवान के प्रेम में डूबा रहता है, भक्ति की ओर जाता हुआ दिखाई देता है, उसमें भक्त और प्रेमी के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। और कभी छल-कपट का आश्रय लेते हुए दुष्टता का परिचय देने लगता है। इसीलिए गोस्वामीजी ने उसके लिए दोनों शब्दों का प्रयोग किया। मारने के प्रसंग में 'खल' शब्द का प्रयोग किया। उसमें दोनों वृत्तियाँ हैं – प्रेम की भी और दुष्टता की भी। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि आपने तो अच्छा प्रेमी चुना। क्या भगवान का यही काम है कि वह अपने प्रेमी को मारे? उन्होंने कहा – भगवान प्रेम को थोड़े ही मारते हैं, उन्होंने तो दुष्टता को मार दिया और प्रेम को अपने में विलीन कर लिया। मारीच को भगवान अपने आप में लीन कर लेते हैं। इस मारीच का जीवन-चरित्र क्या हैं? पहले तो वह रावण के आदेश से यज्ञों को नष्ट करता था और बाद में भगवान राम के बाण के प्रहार से जब वह समुद्र के किनारे जा गिरा, तो उसके मन में भय उत्पन्न हो गया और उसे जहाँ तहाँ भगवान दिखाई देने लगे। मन की स्थिति भी यही है। मारीच बहुरूपिया है। मन भी बहुरूपिया है। मारीच यज्ञ का विरोधी है। मन भी अपने ही सुख की चिन्ता करने के कारण यज्ञ का विरोधी है। और इस मन पर भी कभी कभी ज्ञान के बाण का प्रहार होता है और ज्ञान का प्रहार होने पर अथवा मृत्यु का भय आने पर –

भइ मम कीट भृंग की नाई।
जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥ ३/२५/७

लेकिन इस मन की ऐसी विचित्र विडम्बना है कि कई बार तो उसे न चाहते हुए भी अपराध करना पड़ता है, पाप करना पड़ता है। रावण जब मारीच के पास आता है और कहता है कि तुम्हें नकली मृग बनकर सीता के सामने जाना होगा। मारीच जानता था कि यह उचित नहीं है, वह ऐसा नहीं करना चाहता और रावण को भी ऐसा करने से रोकना चाहता है। हम भी अपने जीवन में कई बार इसका अनुभव करते हैं। व्यक्ति जिस कार्य को विवेक से उचित नहीं मानता, उस कार्य को नहीं करना चाहता –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

– कहकर दुर्योधन ने जो बात कह दी, वही प्रेरक वृत्ति है। गीता में अर्जुन का प्रश्न है – महाराज, व्यक्ति न चाह कर भी बुराई की ओर क्यों चला जाता है ? –

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३/३६

और भगवान इसका उत्तर देते हुए कहते हैं –

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥३/३७

– ये हमारे अन्तःकरण के पाप हैं, जो हमारे मन को बुराई की ओर ले जाते हैं। रामायण में इसका सूत्र यह दिया गया कि मारीच नहीं चाहता, पर रावण उसके सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि न चाहते हुए भी वह वही करने के लिये बाध्य हो जाता है, जिसे विवेक से वह अनुचित समझता है। लेकिन जो नहीं करना चाहता, उसको करने की बाध्यता आ जाने पर उस बाध्यता का भी एक सदुपयोग हो सकता है। गोस्वामीजी ने इसका एक सूत्र दिया –

उभय भाँति देखा निज मरना।
तब ताकिसि रघुनायक सरना ॥३/२६/५

मारीच ने देखा कि दोनों ओर से मरना निश्चित है। मृग बनकर जाऊँगा तो राम मारेंगे और न जाऊँ तो रावण मारेगा। तब उसने निर्णय किया कि जब मरना ही है, तो रावण के हाथ क्यों ? चलूँ, प्रभु के हाथों ही मरूँ। यही सार्थक मरना है। यह सोचकर वह श्रीराम की ओर चल पड़ा। मारीच क्या है ? कपटी और चंचल मन, जो सोने का कपट मृग बना हुआ है। यह नकली मृग है।

लंका में जिस आसन पर भगवान बैठे हैं, उसकी विशेषता क्या है ? अयोध्या के सिंहासन को दूसरे ने बनवा दिया और भगवान बैठ गये। मिथिला के आसन का भी निर्माण दूसरे ने कराया और भगवान आकर बैठ गये। चित्रकूट के आसन को बनाया देवताओं और किशोरीजी ने मिलकर। पर लंका का जो आसन है, वह तो स्वयं ईश्वर को बनाना पड़ा। और इसके निर्माण में उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा, वह तो हम रामायण में पढ़ते ही हैं। आज उसी आसन पर वे बैठे हुए हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग अपने अन्तःकरण को ईश्वर के आसीन होने योग्य बना सकें, वे तो बना लें। लेकिन कभी किसी को ऐसा अनुभव हो कि हम अपने अन्तर्मन को इस योग्य नहीं बना पा रहे हैं, उसके निर्माण की क्षमता हममें नहीं है, तो उनके लिए प्रार्थना ही उपाय है, शरणागति ही उपाय है। उनसे यह प्रार्थना करें कि आज हम इस परिस्थिति में आ गये हैं कि हम चाहकर भी स्वयं को बदलने में समर्थ नहीं हैं। आप आकर स्वयं अपना आसन बनावें।

गोस्वामीजी ने संकेत दिया कि इस आसन के निर्माण में तीनों का हाथ है – लक्ष्मणजी का, सीताजी का और भगवान राम का। इसका संकेतिक तात्पर्य यह है कि यह जो त्रयी है – ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु वैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ॥ २/३२१

– उसका एक क्रम है । मन का निर्माण कैसे हुआ । मारीच सबसे पहले सीताजी के सामने आया । पहले वह श्रीराम के सामने नहीं गया, क्योंकि उसको उनके बाण का पुराना अनुभव था । श्रीराम ने बाण मारकर उसे दूर फेंक दिया था । ज्ञान ने तो वही किया जो उसका स्वभाव है । अब इस समय जरा भक्ति की करुणा का आश्रय लें । भक्ति की कृपालुता का आश्रय लेने से शायद प्रभु मुझे पास बुला लें । भगवान ने मन के दोषों के रूप में मारीच को दूर फेंक दिया था । और अब जब मारीच अपने को नकली मृग के रूप में सीताजी के सामने ले जाता है, तब भक्तिदेवी की दृष्टि उस पर पड़ती है और तुरन्त उन्होंने भगवान राम से कहा –

सुनहु देव रघुबीर कृपाला ।
एहि मृग कर अति सुन्दर छाला ॥३/२७/४

सीताजी जब मृग की प्रशंसा करने लगीं, तो किसी ने पूछ दिया – आप सब कुछ जानते हुए भी उस मृग की प्रशंसा कैसे कर रही हैं ? इस पर उन्होंने क्या कहा ? बड़ी सावधानी है उनके शब्दों में । प्रशंसा में उन्होंने यह नहीं कहा कि मृग बड़ा सुन्दर है । उनके शब्द हैं – "एहि मृग कर अति सुन्दर छाला" इस मृग का चमड़ा बड़ा सुन्दर है । इन दोनों उक्तियों में अन्तर है । अभिप्राय यह है कि जब तक यह जीवित है, तब तक सुन्दर नहीं है, परन्तु जब मर जाएगा तब सुन्दर है । और इसका तात्पर्य यह है कि मन की चंचलता जब तक जीवित है, तब तक वह सुन्दर नहीं है । कबीरदासजी से किसी ने पूछ दिया कि कहिए कुशल तो हैं ? तो उन्होंने कहा – क्या बेतुका प्रश्न करते हो ! तो उसने कहा – महाराज, कौन सी ऐसी दुर्घटना हो गई,

जो ऐसा कह रहे हैं । तो वे बोले —

कुसल कुसल ही के करत, जग में बचा न कोय ।
माया मुई न मन मुआ, कुसल कहाँ ते होय ॥

– न माया मरी, न मन मरा । यहाँ भी एक मायावी मारीच है और मन भी है । सीताजी कहती है– इस मृग का चमड़ा बड़ा सुन्दर है, और साथ साथ कह दिया –

सत्य संध प्रभु बधि करि एही । ३/२७/५

– यह कैसी विचित्र माँग कर रही हैं आप ? पर उनका अभिप्राय क्या है ? प्रभु, आप इसकी चंचलता को मिटा दीजिए । जो मन अपनी चंचलता मिटाने में समर्थ नहीं है, उसकी चंचलता आप अपने प्रहार से मिटा दीजिए । और तब भगवान श्री राघवेन्द्र तुरन्त उस मारीच के पीछे चले । भक्ति ने प्रेरणा दी, ज्ञान मायामृग के पीछे भागा । और मन इतना चंचल है कि –

कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई ।
कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई ॥
प्रगटत दुरत करत छल भूरी ।
एहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी ॥
तब तकि राम कठिन सर मारा ।
धरनि परेउ करि घोर पुकारा ॥ ३/२७/१२-१४

– तब भगवान राम ने बाण से उसे मारा । यह ज्ञान का प्रहार है – माया के ऊपर, मन की चंचलता के ऊपर ज्ञान का प्रहार । और अन्त में जो बचा हुआ काम था, वह किसने पूरा किया ? वह लक्ष्मणजी ने पूरा किया । पूरा करने का यह तीसरा कार्य क्या है ? मृग से जब चमड़ा अलग किया जाएगा, रक्त-मांस को अलग कर दिया जाएगा और उसे पूरी तौर से सूखा लिया जाएगा, तब वह चमड़ा आसन के रूप में उपयोग किया जा सकेगा । और इसका अभिप्राय क्या है ? जब तक मन में राग

का रक्त बना रहेगा तब तक वह भगवान के बैठने योग्य नहीं है। उसके राग का रक्त निकाल दिया जाय और उसे पूरी तरह से सुखा दिया जाय, तब वह भगवान के बैठने योग्य होगा। यह भूमिका भगवान ने वैराग्य को, लक्ष्मणजी को सौंपी। भाई, चमड़े से रक्त को अलग करना, उसको सुखाना, राग को मिटाना तुम्हारा काम है। सीताजी ने अपनी भूमिका पूरी कर दी, हमने अपनी भूमिका पूरी कर दी, और अब तुम्हारी बारी है। गोस्वामीजी गीतावली रामायण में कहते हैं – "लखन ललित लिये मृगछाला"– लक्ष्मणजी जब लौटे तो उन्होंने मृगचर्म को बगल में दबा रखा था। लंका के सुवेल शैल पर लक्ष्मणजी ने इसी मृगचर्म का आसन बिछाकर भगवान राम को बिठाया। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के समवेत कृपा से निर्मित यह मृगचर्म – जिसकी चंचलता मिट चुकी है, जो शान्त और विरक्त है, ऐसे मन पर आसीन होने के बाद ही रावण के विरुद्ध भगवान का युद्ध प्रारम्भ होता है। और उस युद्ध में रावण का विनाश होता है। यह मानो अन्तःकरण में मन का जो निर्माण है, हमारी असमर्थता की स्थिति में भगवान स्वयं आकर हमारी प्रार्थना को स्वीकार करें, बुराइयों को नष्ट करें – यही इस ध्यान का समग्र रहस्य है।

भक्तिशास्त्र के अनुसार मन ही व्यक्ति की समस्या है – "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षणम्।" मन ही केन्द्र है। इसलिए भक्त कहते हैं कि मन का पुनर्निर्माण हो। इसे चाहे रोग कह लीजिए, चाहे राक्षस कह लीजिए, चाहे दुर्गुण-दुर्विचार कह लीजिए और चाहे अवस्था। रामचरितमानस में सभी केन्द्रों का उत्तर दिया गया है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, सभी का समाधान दिया गया है। और अन्त में मन के रोगों का विश्लेषण करते हुए यह कहा गया कि आयुर्वेद की पद्धति से जैसे शरीर के

रोगों का विश्लेषण किया जाता है तथा उसे मिटाने की चेष्टा की जाती है, उसी तरह से मन के रोगों का भी विश्लेषण करके उसे विभिन्न पद्धतियों से मिटाने का प्रयत्न किया जाता है।

यह तो हुई भूमिका। अब आगे हम जिस रोग पर चर्चा करने जा रहे है, वह बड़ा ही व्यापक रोग है। 'पर सुख देखि जरनि सोइ छई'– दूसरे का सुख देखकर जो जलन होती है, वही राजयक्ष्मा है। यह राजयक्ष्मा किस प्रकार आज के समाज को विकृत कर रही है, इसी पर हम आगे चर्चा करेंगे।

सबका भला सोचो

पर्वत की कन्दरा में भी बैठकर यदि तुम कोई पाप-चिन्तन करो, किसी के प्रति घृणा का भाव पोषण करो, तो वह भी संचित रहेगा और कालान्तर में फिर से वह तुम्हारे पास कुछ दुःख के रूप में आकर तुम पर प्रबल आघात करेगा। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि ब्याज सहित तुम पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रखने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।

– *स्वामी विवेकानन्द*

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(तैंतालीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। हम भी इसे क्रमशः यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

श्रीरामकृष्ण और महेन्द्रलाल

डॉ. महेन्द्रलाल सरकार का प्रसंग वचनामृत में अनेक स्थानों पर है। यहाँ पर भी है। डॉक्टर का विश्वास है कि ईश्वर निराकार, अनन्त तथा मन-वाणी से अतीत हैं। वे ही बुद्धि के लिए अगम्य ईश्वर देहधारी होकर, मनुष्य बनकर, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक स्वीकार करके आते हैं – इस बात की वे कल्पना नहीं कर पाते। अवतारवाद में उनका विश्वास नहीं था। श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, अपने आदर्श को श्रीरामकृष्ण के चरित्र में बड़े स्वाभाविक रूप में प्रतिफलित देखकर वे उन्हें श्रेष्ठ मानव के रूप में उच्चतम सम्मान देते है, किन्तु अवतार मान लेने के विरोधी थे। अतः श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व में विश्वास करनेवालों के साथ उनका घोर तर्क होता था। श्रीरामकृष्ण की विलक्षणता यह थी कि वे कभी किसी के भाव को बिना ठेस पहुँचाए, जिसका जैसा भाव होता, उसको उसी भाव में आगे बढ़ने में सहायता करते। परन्तु डॉक्टर की सभी बातों को वे बिना प्रतिवाद के ग्रहण नहीं करते, शिष्यों से कहते, "तुम लोग उत्तर दो।" बीच बीच में दो-एक वाक्य बोलकर

उनके उत्तर को थोड़ा और स्पष्ट कर देते । डॉ. सरकार श्रीरामकृष्ण को अवतार माने चाहे न माने इससे उनका कुछ आता-जाता नहीं, उनका उद्देश्य तो था, डॉक्टर को बुद्धि के पिंजरे से मुक्त करना ।

श्रीरामकृष्ण के प्रत्येक कार्य के पीछे उनका उद्देश्य तथा उसमें निहित गूढ़ रहस्य साधारण दृष्टि से उनके व्यवहार को देखकर समझ में नहीं आता था । सूक्ष्मदृष्टि-सम्पन्न लोगों की दृष्टि में वह थोड़ा-बहुत पकड़ में आता अथवा जब वे स्वयं अपना अभिप्राय व्यक्त करते तब पता चलता । रात के तीन बजे से ही डॉक्टर का 'परमहंस'-चिन्तन शुरू हो गया है और सुबह आठ बजे तक चल रहा है – यह सुनकर श्रीरामकृष्ण हँसते हुए कहते हैं, "वह अँग्रेजी पढ़ा-लिखा है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि तुम मेरा चिन्तन करो । परन्तु अच्छा है, वह स्वयं ही कर रहा है ।" श्रीरामकृष्ण हँसते क्यों हैं ? इसलिए कि महामाया उनके भीतर से चारों ओर जो प्रबल आकर्षण प्रसारित कर रही हैं, उसे वे देखते हैं और हँसते हैं । स्वयं का व्यक्तित्वबोध या कर्त्तृत्वबोध उनमें नहीं है; जानते हैं कि वे जगन्माता के हाथों के यंत्र हैं, उसी यंत्र के द्वारा वे महामाया का खेल देखते हैं और हँसते हैं । इस तरह माँ डॉक्टर के द्वारा श्रीरामकृष्ण का चिन्तन करा ले रही हैं । डॉक्टर उन्हें अवतार मानें या न मानें, इससे कुछ आने-जाने वाला नहीं । श्रीरामकृष्ण को रोगी के रूप में देखने आकर डॉक्टर उनके फन्दे में फँस गये । इस विश्वव्यापी जाल से निकल पाना उनके लिए कठिन है । सोचते हैं कि इससे आर्थिक हानि हो रही है, कर्त्तव्य में त्रुटि हो रही है, लेकिन वे ऐसे अदम्य आकर्षण में पड़े हैं कि उससे स्वयं को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं । धीरे धीरे वे श्रीरामकृष्ण का भाव स्वीकार करते जा रहे हैं ।

अब डॉक्टर कहते हैं, "ईश्वर में सभी गुण (सत्व, रज, तम) हैं।" फिर रोगी देखने आते, पर रोग की चर्चा अधिक नहीं होती। श्रीरामकृष्ण से वे कहते, "आपके लिए बातचीत करना ठीक नहीं है। ज्यादा बातें मत कीजिएगा, केवल मेरे साथ बोलिए।" इससे समझा जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण से उनका एक घनिष्ठ आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। इस घनिष्ठता के कारण वे अपने मन के दृढ़ संस्कारों के साथ विरोध उत्पन्न होने पर, उनका प्रतिवाद भी करते हैं।

मास्टर महाशय डॉक्टर को श्रीरामकृष्ण की अस्वस्थता का दैनन्दिन विवरण देते हैं। बातों ही बातों में श्रीयुत महिमा चक्रवर्ती की बात उठी। एक दिन पहले डॉक्टर जब श्रीरामकृष्ण को देखने गये थे, तब महिमा चक्रवर्ती ने कहा था, "डॉक्टरों का अहंकार बढ़ाने के लिए आपने रोग धारण किया है।" महिमा का अभिप्राय था कि श्रीरामकृष्ण ने कर्म से वशीभूत होकर नहीं, वरन् स्वेच्छा से रोग स्वीकार किया है। इच्छा होने पर वे उसका परित्याग भी कर सकते हैं। डॉक्टर ने सोचा, किसी अलौकिक उपाय के द्वारा शायद श्रीरामकृष्ण अपने रोग को दूर कर सकते हैं, जो उनकी समझ के बाहर है। महिमाचरण की बात सुनकर डॉक्टर को आघात पहुँचता, इसीलिए वे कहते हैं – उस आदमी में कितना तमोगुण है ! मित्रों से कहते हैं, "रोग दुःसाध्य अवश्य है, किन्तु ये सभी लोग पूर्ववत Devotee (भक्त) के समान सेवा कर रहे हैं।" यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि डॉक्टर भक्तों को भक्त नहीं कहते, कहते हैं भक्त के समान। वे अपने ही भाव में दृढ़ हैं कि श्रीरामकृष्ण अवतार नहीं, मनुष्य हैं और मनुष्य का भक्त कैसा ? किन्तु डॉक्टर भक्तों की सेवा की प्रशंसा करते हैं और उनकी सेवा से अनुप्राणित होकर ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के समक्ष आत्मसमर्पण किया है तथा सेवा का उत्तरदायित्व ग्रहण

किया है ।

अवतार और नरलीला

अवतार जब आते हैं, तब सभी को एक ही प्रकार से नहीं, बल्कि विभिन्न प्रकार से आकर्षित करते हैं । भक्तों के साथ उनके सम्बन्ध तरह तरह के होते हैं । डॉक्टर के साथ भी श्रीरामकृष्ण का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार का बन गया था । गिरीश बाबू के साथ और भी अलग तरह का उनका सम्बन्ध था । भक्तों के साथ व्यवहार के इस वैचित्र्य को जिन्होंने नहीं देखा है, वे इसे नहीं समझेंगे । गिरीश बाबू ने कुत्सित भाषा में उनको गालियाँ दी थीं और वे सुनकर हँस दिये थे । काशीपुर में अस्वस्थ होते हुए भी उन्होंने गिरीश बाबू के लिए खाने की वस्तुएँ मँगवा दी थीं, चलने की भी शक्ति नहीं थी, तो भी किसी तरह पानी के घड़े तक जाकर उनके लिए पानी ले आए । इतनी ममता थी उनमें ! गिरीश बाबू श्रीरामकृष्ण को अजस्र गालियाँ देते हैं और कहते हैं, “जो दिया है, वही तो पाओगे ! विष दिया है तो विष ही पाओगे ।” श्रीरामकृष्ण थिएटर में गये थे, वहाँ गिरीश बाबू ने नशे की झोंक में उनके लिए अपशब्द कहे थे और वे हँसकर चले गये । अलग अलग भक्तों के साथ श्रीरामकृष्ण का सम्बन्ध अलग अलग प्रकार का था । स्वयं को उन्होंने न जाने कितने प्रकार से व्यक्त किया था । इसी वैशिष्ट्य के द्वारा उनकी भगवत्ता प्रगट हुई है । सभी मार्ग उन्हें ज्ञात हैं, सभी पथों से जाने की सामर्थ्य उनमें है । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति से वे कहते – अकेले आना । क्योंकि पाँच लोगों के बीच, उसको ठीक उसी के लिए उपयुक्त बात नहीं कही जा सकती । वे प्रत्येक को उसके अपने अपने पथ से अग्रसर करा रहे हैं । यहाँ तक कि वे सब रास्ते जो समाज में घृण्य माने जाते हैं, उनको भी उन्होंने ईश्वर-प्राप्ति के एक एक मार्ग के रूप में स्वीकार किया है । तो भी अपने शिष्यों से उन्होंने

कहा – वे सब गन्दे रास्ते हैं, तुम लोगों के लिए नहीं हैं।

यही ठाकुर का वैशिष्ट्य है। जो पवित्रता की मूर्ति थे, शुद्धता की पराकाष्ठा थे, उन्होंने किस प्रकार इन मार्गों को स्वीकार किया ? ऐसा सोचकर हमारा मन संशयग्रस्त हो जाता है। लेकिन उनकी असीमता यहीं पर प्रस्फुटित हुई है। यह जगत् भगवान की रचना है। यदि वे पवित्र हों, तो सभी पवित्र होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं है। तो फिर यह अपवित्रता कहाँ से आई ? सम्पूर्ण जगत् उन्हीं से निकला है, तब तो पवित्रता और अपवित्रता दोनों उन्हीं के पास से आई होगी। अन्यान्य धर्मों के प्रवक्ता कहते हैं, "वह शैतान का काम है।" शैतान कहाँ से आया ? भगवान से न आने पर, शैतान के साथ भगवान का सह-अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि जब वे ही विश्व ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हैं, तब केवल भले या केवल बुरे वे नहीं हैं। अच्छा-बुरा सब कुछ वे ही हैं और उनमें जाकर अच्छे-बुरे के द्वन्द्व का लेश तक नहीं रह जाता। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – मीनार पर चढ़ जाने से जमीन का ऊँचा-नीचा दिखाई नहीं देता। वेदान्त की दृष्टि से देखे बिना इसे समझना कठिन है।

उत्तर भारत के अनेक तीर्थों का भ्रमण करके श्रीयुत विजयकृष्ण गोस्वामी श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने आए हैं। वे पहले ब्राह्मसमाज के प्रचारक थे। श्रीरामकृष्ण कहते – जो भी करो, भीतर भक्ति का बीज पड़ा हुआ है, कभी न कभी वह अंकुरित होकर बाहर निकलेगा। कहना न होगा कि श्रीरामकृष्ण के दिव्य सम्पर्क में आकर उनका भक्तिबीज सहज ही अंकुरित, पल्लवित तथा पुष्पित हुआ है। महिमाचरण के पूछने पर कि अनेक तीर्थों में घूमकर आपने क्या देखा ? विजयकृष्ण कहते हैं – देखता हूँ, जहाँ पर इस समय मैं बैठा हूँ, यहीं पर सब है।

इधर-उधर भटकना व्यर्थ है। महिमा कहते हैं – आपने ठीक कहा। फिर, ये ही चक्कर लगवाते हैं और ये ही बिठाते है। अर्थात श्रीरामकृष्ण स्वयं को किसी के सामने उन्मोचित न कर दें, तो किसकी सामर्थ्य है कि उस आवरण को भेदकर उन्हें पहचान सके ?

अवतार पकड़ में नहीं आते। वे अपने आपको इस प्रकार ढँककर आते हैं कि उनके घनिष्ठ पार्षद भी उन्हें नहीं पहचान पाते। उपनिषद कहते हैं —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ईश.१५

– ज्योतिर्मय पात्र के द्वारा सत्य का – परमेश्वर का मुख (उनके दर्शन का द्वार) आच्छादित है। हिरण्मय क्यों ? पात्र की यह उज्ज्वल प्रभा उसी सत्य से प्राप्त हुई है। माया या जगत के रूप में मैं जो कुछ देख रहा हूँ, वह सब सत्य की ही अभिव्यक्ति है। मैं सत्यधर्मी हूँ, मेरा उपास्य वही सत्य है। हे जगत्पोषक (पालनकर्ता) सूर्य, तुम मेरी उपलब्धि के लिए अपना आवरण उन्मोचित करो, जिससे सत्य को मैं देख पाऊँ। मानो एक छोटा सा बच्चा माँ के मुख को घूँघट से ढँका हुआ देखकर कहता है – माँ, घूँघट खोलो, मैं तुम्हारा मुख देखना चाहता हूँ, मैं सत्यधर्मी हूँ, सत्य का आश्रित हूँ, तुम अपना आवरण उन्मोचित करो और मैं तुम्हें देखूँ। इसीलिए महिमाचरण कहते हैं – "ये ही चक्कर लगवाते हैं और ये ही बिठाते हैं।"

श्रीरामकृष्ण के साथ विजय की जो संक्षिप्त बातचीत हुई वह संकेत में – मनुष्य की समझ से बाहर, रहस्यमय भाषा में हुई। अचानक विजय ने श्रीरामकृष्ण के चरणों में गिरकर, उनके चरणयुगल अपने वक्ष पर धारण कर लिए, श्रीरामकृष्ण ईश्वरावेश में बाह्यज्ञानशून्य हो गये। यही प्रेमावेश है। इस

अद्भुत दृश्य को देखकर भक्तों में से कोई स्तव कर रहे हैं, कोई रो रहे हैं, कोई उन्हें अपलक निहार रहे हैं, तो कोई गा रहे हैं। जिसका जैसा भाव ! काफी देर बाद श्रीरामकृष्ण प्रकृतिस्थ हुए और कुछ लज्जित से होते हुए मास्टर महाशय से बोले – "आवेश में न जाने क्या हो जाता है...... 'मैं' फिर 'मैं' नहीं रह जाता।"

अवतार यदि सर्वदा अपने को ईश्वर समझते रहें, तो फिर उनकी अवतार-लीला नहीं होती। यदि वे नरलीला न करें, तो उनका अवतीर्ण होना ही व्यर्थ हो जाएगा। ईश्वरावतारों को सर्वदा अपने अवतारत्व का बोध नहीं रह पाता। यह भूले रहना किसी का कम था तो किसी का अधिक। जिस अवतार में व्यक्त अवस्था सर्वदा दिख पड़ती है, सम्भवतः उनके जीवन वृत्तान्त का संग्रह करनेवालों ने उसके मानवी स्वरूप को भूलकर उसके ईश्वरावतार रूप को ही अधिक दिखाने का प्रयास किया है। इसके परिणाम-स्वरूप वहाँ नरलीला का पक्ष मानों म्लान हो गया है।

श्रीरामकृष्ण की जीवनी पर चर्चा करते समय यह बात हमें विशेष रूप से याद रखनी होगी कि उनके जीवनीकार स्वामी सारदानन्दजी ने उनके मानवीय-पक्ष को बहुत ही स्पष्ट रूप से सबके सामने रख दिया है। और वे दिखा देते हैं कि उस मानव रूप के आवरण के माध्यम से बीच बीच में ईश्वरावतार रूप व्यक्त हो जाता है; और वह भी स्वेच्छा से नहीं, वरन् संयोगवश। जैसा कि यहाँ पर श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "बीच बीच में न जाने क्या हो आता है।" वे मनुष्य रूप में लीला करने के लिए आये हैं, परन्तु जब वे भाव में आविष्ट हो जाते हैं, तब फिर उस मानव रूप को पकड़े नहीं रह पाते। कुछ इने-गिने महाभाग्यवानों के सामने वह आवरण खिसक पड़ता था। इस आवरण के न

रहने पर नरलीला की सार्थकता न रहती। 'लीलाप्रसंग'कार ने यह समझा देना चाहा है कि अवतार को हमें मुख्यरूप से मानवरूप में देखना होगा। उसी रूप को देखते देखते, जब हम उस रूप का विश्लेषण करना आरम्भ करेंगे, तब देख सकेंगे कि वह आवरण बीच बीच में उनके ईश्वरत्व को ढँककर नहीं रख पा रहा है, उसके भीतर से व्यक्त हो जा रहा है। भावावेश में उनका आवरण खिसक जाता है। जैसे कि अपने मुहल्ले का 'हरेश' नाटक में राजा बनकर युद्ध कर रहा है, बीच में उसका राजा का पोशाक खिसक कर गिर गया, तब सभी हँसते हँसते बोले, "अरे, यह तो हमारा हरेश है।" यह 'हरेश' ही उसका असली रूप है, राजा का रूप तो उसका आवरण मात्र था। इसी प्रकार अवतार का वास्तविक स्वरूप तो ईश्वर स्वयं हैं और अवताररूपी व्यक्ति या मनुष्यरूप उनका आवरण है। अभिनय के लिए, आकर्षण के लिए इस छद्मवेश की आवश्यकता है। अन्यथा मनुष्य की मजलिस में उन्हें उतार पाना सम्भव नहीं। इसलिए कि मनुष्य उनको पकड़ सके, स्वरूप के सम्बन्ध में विराट् धारणा करके दूर न खिसक जाय, इसी कारण इस आवरण की आवश्यकता है। यह बात हमें विशेष रूप से ध्यान में रखनी होगी।

श्रीरामकृष्ण उसी अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं – "इस अवस्था के बाद गिनती नहीं की जा सकती। गिनने लगो तो १,७,८ इस तरह की गणना होती है।" अर्थात जगत् की श्रृंखला, कार्य कारण सम्बन्ध के अनुसार व्यवहार सम्भव नहीं होता। नरेन्द्र कहते हैं, "सब एक ही है इसलिए।" इतने भाव में होते हुए भी श्रीरामकृष्ण इस वाक्य की त्रुटि का संशोधन करते हुए कहते हैं – "नहीं एक और दो से परे।" सब एक हो जाने पर, एक भी नहीं रह जाता। जहाँ पर दो हैं, वहीं पर तो एक

की सार्थकता है। जब तक अभिनय चल रहा है, तब तक एक, दो की संख्याएँ हैं। अभिनय बन्द हो जाने पर वह एक दो से अतीत है। जहाँ पर दो नहीं, वहाँ पर एक भी नहीं है। स्वामीजी के वाक्य में जो त्रुटि थी, वह अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि से थी, किन्तु श्रीरामकृष्ण ने उसका भी संशोधन कर दिया। जहाँ पर द्वैत नहीं, वहाँ पर अद्वैत भी नहीं है। अद्वैत का अर्थ है द्वैत का निषेध। किन्तु ऐसा होने पर वह क्या वस्तु है ? एक ? नहीं, यहाँ एक कहना गलत होगा। 'एक', एक गुण है, निर्गुण वस्तु पर किसी गुण का आरोप नहीं किया जो सकता। अतः 'एक' कहना नहीं चलता। इसलिए कहते हैं, "एक और दो से परे।"

शास्त्र और ब्रह्मतत्त्व

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "वे शास्त्रों, वेदों, पुराणों और तन्त्रों से परे हैं।" शास्त्रों के परे क्यों ? इसलिए कि शास्त्र मनुष्य को ईश्वराभिमुखी करने का प्रयास करते हैं। जैसा कि कहते हैं – "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम" – वे स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व या दीर्घ नहीं हैं। ऐसे नहीं हैं, ऐसे नहीं है, कहा जाता है, तदुपरान्त वे क्या हैं, यह कहा नहीं जा सकता। जहाँ पर 'नहीं' कहना बन्द हो जाय, वहीं पर वे हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "नेति नेति का भी विराम है जहाँ।" निषेध की श्रृंखला जहाँ समाप्त हो जाय, वहीं पर वे हैं। जहाँ पर वे केवल प्रकाश मात्र हैं, उस प्रकाश की व्याख्या किस माध्यम से करेंगे ? व्याख्या करने पर वह प्रकाश-विशिष्ट हो जाता है और विशिष्ट प्रकाश होने पर फिर वह शुद्ध प्रकाश रह नहीं जाता। शास्त्र कहते हैं कि वहाँ वेद अवेद हो जाता है, अज्ञान हो जाता है। जब तक हम द्वैतराज्य में हैं, तभी तक विचार चलता है। श्रीरामकृष्ण की अनुपम भाषा में – नमक का पुतला समुद्र मापने जाकर उसी में गल गया। अब

लौटकर खबर कौन देगा ? उनका चिन्तन करते करते जब जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता है, तब उसकी व्याख्या कौन करेगा ? जीव रह कहाँ गया ? ब्रह्म तक पहुँचना सम्भव नहीं है। वे शास्त्र के परे हैं, यह बात बारम्बार कही जा रही है। शब्द के द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। वेद भी शब्दराशि हैं, वे भी ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकते, तो भी दिग्दर्शन करा देते हैं। वे तीनों गुणों के अतीत हैं। सत्त्वगुण ब्रह्म-स्वरूप का पथ दिखला देता है, किन्तु वहाँ तक पहुँचा देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है।

इस प्रसंग में ठाकुर कहते हैं – पाण्डित्य लेकर जो रहते हैं, वे राजर्षि हो सकते हैं, ब्रह्मर्षि नहीं। "किसी के हाथ में यदि मैं एक पुस्तक देखता हूँ तो उसके ज्ञानी होने पर भी मैं उसे राजर्षि कहता हूँ। ब्रह्मर्षि का कोई बाह्य लक्षण नहीं रहता।" सच्चे ज्ञानी के लिए शास्त्र तुच्छ हो जाता है, शास्त्र के परे जो तत्व है, उसी तत्व की उन्होंने उपलब्धि की है, इसीलिए आम लोगों के लिए शास्त्र की जो मर्यादा है, वह उनके लिए नहीं है। शास्त्र मानों एक पत्र की तरह है। उसमें लिखा है, "पाँच सेर मिठाई और एक धोती भेजना।" शास्त्र का कार्य है केवल इस खबर को दे देना। जो साधक है, वह उसी मार्ग पर चलना आरम्भ करता है, फिर उसे शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं। केवल पथ पर चलना होगा।

ईश्वरीय प्रकाश और उपलब्धि

अवतार के प्रसंग में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "ईश्वर मनुष्यदेह धारण करके आते हैं। यह सच है कि वे सर्वत्र और सर्वभूतों में हैं, किन्तु अवतार के बिना जीवों की आकांक्षा पूरी नहीं होती, उनकी आवश्यकताएँ नहीं मिटतीं।" वैसे तो वे सर्वभूतों में हैं, किन्तु उस रूप में उनकी उपलब्धि नहीं की जा

सकती। इस कारण मनुष्य की आवश्यकता पूरी नहीं होती। उन्हें अवतीर्ण होकर आना पड़ता है। एक स्थान पर विशेष शक्ति का प्रकाश दिखाना पड़ता है। उसी शक्ति का प्रकाश देखकर मनुष्य ईश्वर की धारणा कर सकता है। श्रीरामकृष्ण ने गाय के थन की उपमा दी है। अवतार में ईश्वर का स्वरूप प्रतिबिम्बित हो रहा है। शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर सर्वत्र है, पर उससे हमें क्या लाभ ? हम क्या कुछ देख पा रहे हैं ? किन्तु जहाँ पर वे विशेष रूप से प्रकट हैं, जहाँ काफी अभिव्यक्ति हो, वहाँ देखने पर लगता है, "हाँ, ये ईश्वर हो सकते हैं। स्वरूप की अभिव्यक्ति की पूरी धारणा न कर पाने पर भी, इतना तो समझता हूँ कि ये व्यक्ति हम लोगों के समान नहीं हैं। शास्त्र में कथित ईश्वर के लक्षण काफी-कुछ इनमें व्यक्त दिखाई दे रहे हैं।" यदि भगवान अवतीर्ण न हों, अथवा अपने आपको एक आवरण में ढँककर न आएँ, तो अनावृत्त होकर हमारे समक्ष उनके आ जाने पर, उनको जान पाने या उनकी धारणा कर पाने की सामर्थ्य क्या हममें है ? इसीलिए उनका यह आवरण है।

प्रश्न उठता है कि जो इन सब के अतीत हैं, वे क्यों ऐसा प्रयास करते हैं ? इसका कोई उत्तर नहीं। उनकी इच्छा है कि वे जगत् को लेकर इस तरह खेल करें। चोर चोर के खेल में वे ही चोर बने हैं, वे ही पुलिस बने है और वे ही मुक्त करनेवाले भी बने हैं। किसी का वे उद्धार कर रहे हैं और किसी को बन्धन में फँसा रहे हैं। वे ही विभिन्न रूपों में यह खेल खेल रहे हैं। इसीलिए साधक जब सभी वस्तुओं में उनकी उपलब्धि करके कहता है – तुम्हीं अच्छे हो, तुम्हीं बुरे हो, तभी उसकी अनुभूति पूर्णता को प्राप्त होती है। समझना होगा कि वे ही सब हुए हैं, परन्तु अवतार में उनकी विशेष अभिव्यक्ति है।

श्रीरामकृष्ण संकेत करते हैं कि अवतार को पकड़ो। वे ही अवतार बनकर आए है। उनके पार्षदों में से भी क्या सभी समझ सके थे ? नहीं समझ सके थे। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं भी कोई स्पष्ट रूप से बताया नहीं। कहीं कहीं संकेत मात्र दिया है। स्वामी विवेकानन्द जैसे बिरले ही किसी किसी के सामने समस्त आवरण हटाकर उन्होंने दर्शन दिया है, "देख तो, पहचान पाता है या नहीं।" इस प्रकार स्वयं ही धरा न देने पर, किसमें क्षमता है कि उन्हें पकड़े।

वचनामृताष्टक

द्वारका प्रसाद शर्मा

अरावली विहार, अलवर (राज.)

रामकृष्ण कलिकाल के, अधुनातन अवतार ।
उनकी वाणी अमिय सम, हरती क्लेश-विकार ॥

वचनामृत उनका सहज, सर्व शास्त्र का सार ।
त्यागी भोगी सभी का, करे परम उपकार ॥

श्रद्धा से प्रतिदिन करे, वचनामृत का पान ।
पावे प्रभु-पद-प्रेम शुचि, बसें हृदय भगवान ॥

ठाकुर की वाणी सुमिर, मन तज विषमय भोग ।
करुणामय प्रभु शीघ्र ही, हर लेंगे भव रोग ॥

वचनामृत की नदी में, प्रज्ञा जल भरपूर ।
इसमें मल मल न्हाइये, सब मल होंगे दूर ॥

वचनामृत से ऊपजे, अति पावन गुण चार ।
तपनिष्ठा, श्रद्धापरम, भक्ति, विवेक-विचार ॥

सर्वधर्ममय सर्वदा वचनामृत सद्ग्रन्थ ।
प्रामाणिकता पा रहे, जग के सारे पन्थ ॥

वचनामृत सत्संग है, वचनामृत ही भक्ति ।
वचनामृत श्रुतिसार है, मूर्तिमान शिव-शक्ति ॥

श्री चैतन्य महाप्रभु (२१)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।– स.)

शीघ्रतापूर्वक चलकर जब चैतन्यदेव नीलाचल (पुरी) लौट आये, तो अप्रत्याशित रूप से उन्हें अपने बीच पाकर सार्वभौम, रामानन्द आदि भक्तों के अन्तर में अपार आनन्द हुआ। उन लोगों के विस्मित होकर लौट आने का कारण पूछने पर महाप्रभु बोले, "मैंने सोचा था कि बंगाल होकर अपनी माता और गंगाजी के दर्शन करते हुए वृन्दावन जाऊँगा। परन्तु बंगाल में पहुँचते ही एक हजार भक्त साथ जुट गये और हमारा कौतुक देखने के लिए लाखों लोगों का ताँता लगा रहता था। लोगों के जमघट से मेरा रास्ता चलना दूभर हो गया। मैं जिस भी घर में रहता, उसकी दीवारें लोगों के दबाव से चूर्ण हो जातीं। जिधर भी नेत्र उठते उधर लोग ही लोग दीख पड़ते।... कहाँ तो मुझे एकाकी वृन्दावन जाना चाहिए था और इधर मेरे साथ ढोल पीटते हुए पूरी सेना ही चल रही थी। अपने को धिक्कारते हुए मैं बड़ा ही अधीर हो उठा। उनसे विदा लेकर मैं पुनः गंगातट पर आ पहुँचा। भक्तों को मैं उनके उनके स्थान पर छोड़ आया और केवल कुछ लोग ही मेरे साथ लौट कर आये। अब आप ही लोग विचार करके मुझे ऐसा उपाय बताइए जिससे मेरा निर्विघ्न वृन्दावन गमन हो सके।"

चैतन्यदेव के मुख से उनकी बंगाल यात्रा का विवरण, रूप-सनातन के साथ उनका साक्षात्कार, रघुनाथ का वैराग्यभाव तथा अन्य भक्तों की कुशलता का समाचार आदि सुनकर सभी

अतीव प्रसन्न हुए। केवल पुरी के भक्तों को साथ लेकर ही इस वर्ष रथयात्रा का आनन्दोत्सव सम्पन्न हुआ। वर्षा बीतते ही वे पुनः उत्तर-पश्चिम की यात्रा के लिए व्याकुल हो उठे। साथ चलने के लिए बहुतों को लालायित देखकर चैतन्यदेव उन्हें समझाते हुए बोले, "दल बाँधकर तीर्थयात्रा को निकलना अच्छा नहीं है। सनातन ने मुझसे कहा है कि अकेले जाइए या फिर किसी एक को साथ लेकर। अतः इस बार में एकाकी ही जाऊँगा; अकेले रहने से भगवच्चिन्तन की विशेष सुविधा रहती है। फिर बहुत से लोगों को साथ लेकर चलने से रास्ते में देखकर लोग कहेंगे कि यह भी एक ढोंग है।"

इस बार बंगाल न जाकर, झाड़खण्ड की ओर से होकर जाना निश्चित हुआ। यह रास्ता लोकालयहीन है, जगह-जगह जंगलाकीर्ण है; इसीलिए रामानन्द राय और स्वरूप दामोदर ने साथ में एक ब्राह्मण को ले जाने का विशेष अनुरोध करते हुए कहा, "एक उत्तम ब्राह्मण तो आपको साथ में अवश्य ले जाना चाहिए। वह आपके लिए भिक्षा पका देगा और भिक्षा का पात्र वहन करके ले जाएगा। वन पथ से होकर जाते समय आपको एक भी खाना पकाने के योग्य ब्राह्मण नहीं मिलेगा, अतः अपने साथ एक ब्राह्मण को भेजने की अनुमति आप हमें दीजिए।" प्रभु बोले, "मैं किसी को भी अपने संगी के रूप में नहीं लूँगा, क्योंकि किसी एक को साथ लेने पर बाकी लोगों के मन में दुःख होगा।" स्वरूप ने कहा, "ये बलभद्र भट्टाचार्य आपके प्रति बड़ा कोमल भाव रखते है, ये पण्डित, धर्मप्राण और सज्जन व्यक्ति हैं। आप जब पहली बार यहाँ आये, उसी समय ये भी बंगाल से आपके साथ आये थे। समस्त तीर्थों की यात्रा करने की इनकी बड़ी अभिलाषा है। इनके साथ एक ब्राह्मण सेवक भी हैं, जो पथ में आपकी सेवा तथा भिक्षा प्रस्तुत कर देंगे। इन्हें साथ ले जाने

पर हम सबको बड़ी खुशी होगी, क्योंकि इससे वन से होकर जाते हुए आपको कोई तकलीफ नहीं होगी। ये ब्राह्मण आपके वस्त्र तथा जलपात्र वहन करेंगे और भट्टाचार्य भिक्षाटन करके आपकी भिक्षा की व्यवस्था कर देंगे।"

उन लोगों के हार्दिक अनुरोध को चैतन्यदेव अस्वीकार न कर सके और उन्होंने बलभद्र भट्टाचार्य को अपने साथ ले लिया। बलभद्र का भृत्य ब्राह्मण भी उनके संग चला। श्री जगन्नाथ से आशीर्वाद की प्रार्थना करने के बाद एक दिन गम्भीर रात्रि के समय उन्होंने गोपनीयतापूर्वक पुरी से प्रस्थान किया। लोगों की निगाह से बचने के लिए वे प्रमुख राजपथ से नहीं गये। सबेरे दर्शनार्थी भक्तगण आकर, उन्हें न पाकर अत्यन्त अधीर हुए और चैतन्यदेव के बारे में जानने की आकांक्षा व्यक्त करने लगे। इस पर स्वरूप ने सबको समझाकर शान्त किया।

इधर चैतन्यदेव लोकसंग के भय से प्रमुख राजपथ छोड़कर ग्राम्यपथ से होकर चलने लगे। कटक को दाहिने रखकर उत्तर-पश्चिम की ओर अग्रसर होते हुए वे लोग क्रमशः छोटा नागपुर और संथाल परगना के मध्यवर्ती जंगलाकीर्ण झाड़खण्ड के भीतर से चलने लगे। निर्जन और हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण इस दुर्गम वन पथ को पार करना बड़ा कष्टकर था। पथ पर चलते समय बीच बीच में उन्हें जंगली फल मूल खाकर जीवन धारण करना पड़ता था। कभी कभी सुविधानुसार भट्टाचार्य चावल माँगकर और वन से शाकपात एकत्र करके कोई अच्छी जगह मिली तो उसे पकाते और संन्यासी-चूड़ामणि को भिक्षा प्रदान करते। वन की शाक-सब्जी खाकर चैतन्यदेव को बड़ा आनन्द होता। जनशून्य अरण्य में उन्हें धूनी जलाकर वृक्ष के नीचे निवास करना पड़ता। पर्वती अंचल में कहीं कहीं रास्ते के पास से होकर पानी का झरना बहता है, जिसका जल अमृत के समान

मधुर होता है। इन निर्झरों के उष्ण जल में महाप्रभु दिन में तीन बार स्नान करते और दो बार अग्नि जलाकर सन्ध्या करते। यात्रा बड़ी ही कष्टमय थी, परन्तु भावुक संन्यासी को दुःख-कष्ट की बिल्कुल भी परवाह न थी, बल्कि परमेश्वर द्वारा सृष्ट प्रकृति के अपूर्व दृश्यों के सौंदर्य से उनका चित्त परम हर्ष एवं प्रेम से विभोर हो जाता और वे भट्टाचार्य को सम्बोधित कर आनन्दपूर्वक कहते, "कृपालु कृष्ण ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की, जो इस वनपथ से लाकर मुझे इतना सुख दिया।" भगवान का नाम-कीर्तन करते हुए, उनके ध्यान व चिन्तन में तन्मय रहकर चैतन्यदेव परम आनन्दपूर्वक उस सुदीर्घ दुर्गम पथ को पार करने लगे।

उस अंचल में जगह जगह कोल, भील, संयाल आदि पहाड़ी आदिवासी निवास करते थे। उनकी भाषा, रीति-रिवाज से अपरिचित होने के बावजूद महाप्रभु उन लोगों के साथ हिल-मिलकर संकेत और इशारे के द्वारा भाव-विनिमय करते। उनका दर्शन करके तथा उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार पर मुग्ध होकर वे वनवासी लोग भी उनके भक्त हो जाते। वे स्नेह देकर उन लोगों को अपना बना लेते और क्षेत्र देखकर जगह जगह भक्ति के बीज बिखेरते जाते। यथाकाल वे बीज अंकुरित हुए थे और बाद में उनके अनुयाइयों के द्वारा सिंचित होकर, उन्होंने हिन्दूसमाज के अंग को परिपुष्ट किया था। जंगलाकीर्ण प्रदेश पार होकर वे लोग क्रमशः बिहार के समतल भूमि में आ पहुँचे।

इस प्रकार भक्ति-प्रेम का प्रचार करते हुए सुदीर्घ पथ पार करके वे लोग हिन्दुओं के चिराकांक्षित मोक्षधाम, संन्यासियों के अतिप्रिय तीर्थ काशीपुरी में आ पहुँचे। उत्तरवाहिनी भागीरथी के पश्चिमी तट पर अर्धचन्द्राकार सुशोभित 'अन्नपूर्णा की राजधानी', 'विश्वनाथ का आनन्दकानन', महाकाल द्वारा रक्षित वाराणसी क्षेत्र दृष्टिगोचर होते ही तीर्थयात्री के अन्तर में एक

अपूर्व भाव का संचार करता है ! इस नास्तिकता के युग में भी कितने ही विदेशी और विधर्मी तक विस्मय-विस्फारित नेत्रों के साथ गंगावक्ष से इस पुण्यतीर्थ का अवलोकन किया करते हैं। और उस काल में सुदीर्घ दुर्गम पथ चलने के बाद वहाँ पहुँचकर परिव्राजक चैतन्यदेव ने इस बहुवांछित तीर्थ का किस दृष्टि से अवलोकन किया होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। महाप्रभु भावविह्वल होकर उस पुण्यक्षेत्र की धूलि में लोटकर प्रणाम करने के पश्चात् मणिकर्णिका में स्नान करने को गये। मणिकर्णिका घाट पर उनकी अपने पूर्वपरिचित तपन मिश्र[१] के साथ भेंट हुई। अप्रत्याशित रूप से उन्हें पाकर मिश्र के आनन्द की सीमा न रही। स्नान के उपरान्त चैतन्यदेव उनके साथ ही श्री विश्वेश्वर के मन्दिर में दर्शन करने को गये। वहाँ बाबा भोलानाथ के सिर पर गंगाजल और बिल्वदल अर्पित करते हुए संन्यासी के प्राण हर्ष से उत्फुल्ल हो उठे। अन्नपूर्णा-विश्वनाथ का दर्शन करने के बाद प्रेम-पुलकित महाप्रभु बिन्दुमाधव तथा अन्य देवालयों में दर्शन करने को गये और अन्त में उन्होंने तपन मिश्र की प्रार्थना पर उन्हीं के घर भिक्षा और विश्राम किया।

चन्द्रशेखर नाम के एक बंगाली वैद्य भक्त भी उन दिनों काशी में ही निवास करते थे। तपन मिश्र के साथ उनकी बड़ी मित्रता थी। भजनप्रेमी भक्त चन्द्रशेखर काशी के पण्डित तथा संन्यासीगण के मुख से सर्वदा निर्गुण ब्रह्मतत्व, मायावाद तथा प्रेमभक्ति की विरोधी चर्चा व युक्तियाँ सुनकर मन ही मन बड़े व्यथित होते थे। इसीलिए अब चैतन्यदेव को पाकर और उनके मुख से भगवद्भक्ति की बातें सुनकर चन्द्रशेखर का हृदय शीतल हुआ तथा उनके प्राणों में आनन्द का संचार हुआ। चन्द्रशेखर

१ तपन मिश्र जगन्नाथ मिश्र के निकट सम्बन्धी थे। श्रीहट्ट (सिलहट) जाते समय चैतन्यदेव का उनसे परिचय हुआ था।

और तपन मिश्र के विशेष आग्रह पर चैतन्यदेव मिश्र के घर पर ही निवास करने लगे। नित्य गंगास्नान, विश्वनाथ-दर्शन, भजन-कीर्तन और ध्यान-धारणा में उनके दिन बड़े आनन्द में बीतने लगे। संन्यासी के मनोहर रूप, सुमधुर उपदेश और अभूतपूर्व भावभक्ति से आकृष्ट होकर अनेक लोग उन्हें भिक्षा देने को इच्छुक थे, परन्तु मिश्र की अनन्य भक्ति के चलते चैतन्यदेव और किसी के यहाँ न जाकर प्रतिदिन मिश्र के घर ही भिक्षा ग्रहण करते थे। इस प्रकार यथासाध्य लोगों के संग से बचते हुए, एकान्त में अपने भाव में दस रात काशीवास करने के बाद वे तीर्थराज प्रयाग की ओर रवाना हुए।

प्रयाग पहुँचकर त्रिवेणी-संगम में स्नान और दर्शनादि करके उनके मन में अपार आनन्द हुआ। तीन रात वहाँ बिताकर वे व्रजदर्शन के लिए पुनः पथ पर निकल पड़े। दिन पर दिन चलकर और विविध तीर्थ व प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन करते हुए क्रमशः वे अग्रवन (आगरा) पहुँचे। अग्रवन के निकट यमुनातट पर कैलाश नामक पवित्र तीर्थ और महर्षि जमदग्नि का आश्रम है। वहाँ भगवान परशुराम द्वारा प्रतिष्ठित महादेव विराजमान है। महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका के नाम पर रेणुका नामक ग्राम है। यहीं परशुरामजी का जन्म हुआ था। इस रेणुका ग्राम से राजग्राम होकर चैतन्यदेव शीघ्र ही गोकुल जा पहुँचे।

काफी काल से आकांक्षित पवित्र व्रजमण्डल में प्रवेश करते ही प्रेमिक संन्यासी के अन्तर का भावसमुद्र तंरगायित हो उठा। अश्रु-पुलक-कम्प आदि सात्विक विकार उदित होकर गौरसुन्दर को और भी माधुर्यमय बनाने लगे। गोकुल में वृक्ष के नीचे रात गुजारने के बाद अगले दिन वे श्रीमती राधारानी का जन्मस्थान राउल (राया) ग्राम का दर्शन करते हुए यमुना पारकर मथुरा जा पहुँचे। सप्तमोक्ष क्षेत्रों में एक, भगवान श्रीकृष्ण की जन्मभूमि

मथुरा का दर्शन करके उनका हृदय भावविह्वल हो उठा। किसी प्रकार अपने को सँभालते हुए उन्होंने यमुना के विश्राम घाट में स्नान किया। तदुपरान्त केशवदेव के मन्दिर में जाकर उन्होंने दर्शन, स्तुति तथा प्रार्थना की और भाव में डूबकर कीर्तन करने लगे। उनका सुमधुर कीर्तन और अलौकिक भावावेश देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोग मुग्ध हो गये। केशवदेव मन्दिर के एक ब्राह्मण कीर्तन से आकृष्ट होकर चैतन्यदेव के पास आये और अत्यन्त भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करके कीर्तन में सम्मिलित हो गये। वे ब्राह्मण भी भावावेश में आकर क्रमशः नृत्य करने लगे। ब्राह्मण की प्रेमभक्ति देखकर चैतन्यदेव के विस्मय की सीमा न रही। कीर्तन समाप्त हो जाने पर उन्होंने ब्राह्मण से उनका परिचय पूछा। अत्यन्त विनयपूर्वक उन्होंने बताया कि वे श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी के शिष्य हैं। पुरीजी जब व्रजमण्डल का भ्रमण करने आये थे उसी समय उन्हें उनकी कृपालाभ करने का सुयोग मिला था। उन ब्राह्मण को अपने गुरु का गुरुभ्राता जानकर चैतन्यदेव ने उनके प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित किया और अतीव आग्रह के साथ उनके मुख से पुरीजी के व्रजदर्शन का सम्पूर्ण विवरण सुनकर स्वयं को कृतार्थ माना। माधवेन्द्र महाराज की अपार करुणा का उल्लेख करते हुए ब्राह्मण बोले, "हम लोग सनोड़िया ब्राह्मण हैं, अतः संन्यासीगण हमारे यहाँ भिक्षा ग्रहण नहीं करते। परन्तु पुरी महाराज ने उस प्रचलित प्रथा की उपेक्षा कर भिक्षा ग्रहण करके हमें कृतार्थ किया था।" ब्राह्मण के मुख से यह घटना सुनकर चैतन्यदेव भी उनके घर भिक्षा पाने का आग्रह करने लगे, पर ब्राह्मण अतीव कातरता के साथ हाथ जोड़कर उन्हें मना करते हुए कहने लगे, "प्रभो ! आपको भिक्षा देना तो बड़े सौभाग्य की बात है, लेकिन हमारे घर में अन्न ग्रहण करने से लोग आपकी निन्दा करने लगेंगे और इस विचार मात्र

से ही अतीव दुःख होता है ।" उन्हें अभय देते हुए प्रभु बोले, "जितनी भी श्रुतियाँ, स्मृतियाँ और ऋषिगण हैं, किसी का भी एक मत नहीं, सभी अलग अलग आदेश देते हैं । पर साधु के आचरण से ही धर्म की स्थापना होती है । पुरीजी ने जो व्यवहार किया वहीं धर्म का सार है ।" उन ब्राह्मण के घर ही चैतन्यदेव ने भिक्षा ग्रहण की और उन्हीं के साथ स्वयम्भू क्षेत्र, विश्राम घाट, विष्णु भगवान, महाविद्या देवी, भूतेश्वर, गोकर्ण महादेव आदि मथुरा के प्रमुख स्थानों का दर्शन करके महाप्रभु को अतीव आनन्द हुआ । इसके पश्चात् वे वृन्दावन की ओर अग्रसर हुए और मार्ग में विविध लीलास्थानों का दर्शन कर अतीव पुलकित हुए ।

वृन्दावन पहुँचकर वहाँ की अपार्थिव शोभा को देख उनका चित्त हर्षविभोर हो उठा । उन्हें ऐसा बोध हुआ मानो वहाँ के स्थावर-जंगम, तरु-लता, पशु-पक्षी आदि सभी भगवत्प्रेम में उन्मत्त होकर मधुवर्षण कर रहे हैं । विश्व का चराचर सब कुछ मधुमय प्रतीत होने से उनका अन्तर भावविष्ट हो उठा । श्रीकृष्ण की अलौकिक वृन्दावन लीलामाधुरी का उद्दीपन हो जाने से उनके बाह्यज्ञान का लोप हो गया । इसके फलस्वरूप उनका शरीर धरती पर लोट गया और मथुरा के वे ब्राह्मण अतीव सावधानीपूर्वक उस शुद्ध अपापबिद्ध देह की रक्षा करते हुए, उन्हें उच्चस्वर में कृष्णनाम सुनाने लगे । इस प्रकार उनके काफी देर तक नाम सुनाने के बाद धीरे धीरे महाप्रभु की बाह्यसंज्ञा लौट आयी ।

"पुरी में उन्हें जैसा प्रेमावेश होता था, वृन्दावन के पथ में उसके सौ गुना आवेश होता था । मथुरा का दर्शन करके वह सहस्त्रगुना बढ़ा और वन में भ्रमण करते समय उनका प्रेम लाखगुना बढ़ जाता था । अन्य प्रदेश में होने पर वृन्दावन के

नाम मात्र से ही उनका हृदय प्रेम से विह्वल हो जाता था और अब तो वे साक्षात् उसी वृन्दावन में भ्रमण कर रहे थे, अतः वहाँ पर उनका मन दिनरात प्रेम में अभिभूत रहता था और स्नान-भिक्षा आदि का निर्वाह तो बस अभ्यासवश हो जाता था।[२]

चैतन्यदेव वृन्दावन में रहकर अत्यन्त आग्रहपूर्वक वहाँ के लीलास्थानों का दर्शन करने लगे। श्री राधाकृष्ण-लीला के सभी स्थानों को देखकर उनके अन्तर में उन समस्त लीलाओं का स्फुरण होता और इसके फलस्वरूप उन्हें बाह्य जगत् का विस्मरण हो जाता था। प्रतिक्षण वे उसी लीलारस के आस्वादन में विभोर रहते। दिनरात उसी प्रेमसमुद्र में डूबते-उतराते उनका अपने देह की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं जाता था। नित्य के अभ्यासवशतः किसी प्रकार उनकी स्नान-भिक्षा आदि क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती थी। संगीगण अति सावधानीपूर्वक उनके साथ रहकर प्राणपण से उनकी देहरक्षा का प्रयास करते रहते थे।

इस प्रकार क्रमशः वहाँ के वनों[३] को देखकर, राधाकुण्ड और श्यामकुण्ड का दर्शन करने के पश्चात वे गोवर्धन पहुँचे। गोवर्धन के पाद प्रदेश में साष्टांग प्रणाम करने के उपरान्त एक शिला लेकर उन्होंने हृदय से लगाया और प्रेमभाव में विभोर होकर काफी काल तक वे स्तव-प्रार्थना करते रहे। इसके बाद गोवर्धन ग्राम में जाकर उन्होंने ब्रह्मकुण्ड में स्नान तथा हरिदेव का दर्शन करके भिक्षा ग्रहण की। हरिदेव के मन्दिर के आंगन में ही उनकी वह रात बीती। अगले दिन प्रभातकाल मानसगंगा में स्नान तथा महादेव का दर्शन करने के पश्चात् वे गोवर्धन की

२. श्री चैतन्यचरितामृत।

३. यमुना के इस पार मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, काम्यवन, खैरवन तथा वृन्दावन और यमुना के उस पार भद्रवन, भाण्डीरवन, बिल्ववन, लोहवन तथा महावन – ये मनोहर वन स्थित है। – भक्तिरत्नाकर

परिक्रमा करने को निकले । प्रदक्षिणा के पथ में गोवर्धन के ऊपर अन्नकूट नामक ग्राम में श्रीमत् माधवेन्द्रपुरी द्वारा प्रतिष्ठित गोपाल विग्रह[४] का दर्शन करने के लिए चैतन्यदेव के मन में विशेष आग्रह का उदय हुआ । परन्तु पवित्र गोवर्धन पर्वत पर चढ़ने की उनकी बिल्कुल भी इच्छा नहीं थी, अतः किस प्रकार गोपाल का दर्शन मिले इसी भाव में पीड़ित वे गोविन्दकुण्ड पहुँचे । वहाँ उनके सुनने में आया कि गोपाल यहाँ के निकट ही गाँठोली ग्राम में निवास कर रहे हैं ।

उन दिनों उस अंचल में डकैतों का भीषण उत्पात मचा हुआ था । दिल्ली के मुसलमान सल्तनत के तुर्की सैनिक बीच बीच में मौका देखकर समृद्ध गाँवों में जाकर लूटपाट किया करते थे । इसी प्रकार के उत्पीड़न के भय से अन्नकूट ग्राम के वासी कभी कभी गोपाल को साथ लिए गाँव छोड़कर भाग जाते थे । उन दिनों भी वे ऐसे ही किसी आक्रमण की आशंका से गोपाल के साथ आकर गाँठोली ग्राम में निवास कर रहे थे । लोगों के मुख से यह संवाद पाकर चैतन्यदेव ने गाँठोली जाकर गोपाल का दर्शन किया और उनके सौंदर्य व माधुर्य से आकृष्ट होकर तीन दिन वहीं ठहर गये । वहाँ के निवासी भी इसके फलस्वरूप महाप्रभु की सौम्यमूर्ति तथा अपूर्व भावावेश देखकर धन्य हुए ।

गोवर्धन-प्रदक्षिणा हो जाने के पश्चात् उन्होंने काम्यवन, बरसाना, संकेतग्राम, नन्दग्राम आदि लीलास्थानों का दर्शन किया और यमुना पार कर गोकुल महावन को देखते हुए पुनः मथुरा लौट आये । इस बार भी उन्होंने उन पुजारी ब्राह्मण के घर ही कई दिन निवास किया । अब उन्हें देखने तथा उनकी अमृतमयी वाणी सुनने के लिए बहुत से लोगों का आगमन होने लगा । दिन

४. यही गोपाल विग्रह आजकल उदयपुर के निकट नाथद्वारा मंदिर में प्रतिष्ठित है ।

पर दिन आगन्तुकों की भीड़ बढ़ते देखकर वे जनसंकुल मथुरा को छोड़कर, मथुरा और वृन्दावन के बीच स्थित अक्रूरघाट नामक एक निर्जन स्थान में आकर निवास करने लगे। बीच बीच में वे वृन्दावन जाकर विभिन्न घाटों में स्नान करते तथा श्रीराधाकृष्ण के लीलास्थलों, यमुना पुलिन, वहाँ के अधिष्ठातृ-देवता गोपेश्वर महादेव, कात्यायनी पीठ आदि स्थानों का दर्शन करते और वहाँ कीर्तनानन्द में विह्वल हो जाते। लोगों के मुख से समाचार फैल जाने से दिन पर दिन अक्रूरघाट पर उनके दर्शनार्थियों की भीड़ बढ़ने लगी। वहाँ आनेवाले सभी लोगों का वे सर्वदा अत्यन्त प्रेमपूर्वक स्वागत करते और अपने मर्मस्पर्शी सरल उपदेशों के द्वारा उनका सारा संशय मिटाकर उन्हें भगवत्प्राप्ति का सहजतम पथ – भक्तियोग का निर्देश कर देते। यहीं पर कृष्णदास[५] नामक एक सम्भ्रान्त राजपूत ने आकर उनके श्रीचरणों में आश्रय लिया और सर्वदा संग रहकर मनसा-वाचा-कर्मणा उनकी सेवा करने लगे।

इन्हीं दिनों वृन्दावन में अफवाह फैली कि कालीयदह में श्रीकृष्ण फिर प्रकट हुए हैं; वे हर रोज रात को कालीय नाग के सिर पर खड़े होकर नाचते हैं और नाग के मस्तक में स्थित मणि की प्रभा से उनका श्रीअंग आलोकित होता है। चारों तरफ हो-हल्ला मच गया। प्रतिदिन रात के समय बहुत से लोग आकर कालीयदह के किनारे खड़े होकर 'श्रीकृष्ण' दर्शन करने लगे। इस अफवाह को सुनकर चैतन्यदेव हँसने लगे, परन्तु उनके सरल तथा विश्वासी संगी बलभद्र कृष्णदर्शन को बड़े उत्सुक हुए और बारम्बार उनसे अनुमति की प्रार्थना करने लगे। भट्टाचार्य की

५. भक्तमाल ग्रन्थ के अनुसार इन्हीं कृष्णदास ने परवर्ती काल में गृहस्थाश्रम छोड़कर त्याग पथ का अवलम्बन किया और गुजरात, काठियावाड़ तथा सिन्ध प्रदेश में चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग का प्रचार किया।

उत्कण्ठा पर नाराज होकर प्रभु ने उन्हें हल्का सा एक चपत लगाते हुए कहा, "विद्वान होकर भी तुम मूर्खों की बात में आकर मूर्ख हुए जा रहे हो। इस कलिकाल में कृष्ण भला कहाँ दर्शन देने लगे ! ये मूर्खगण तो अपने भ्रम में पड़े शोरगुल मचा रहे है। अब और बकबक न कर कमरे में बैठे रहो और कल रात में जाकर कृष्ण का दर्शन कर लेना।" अगले दिन कुछ विशिष्ट लोग वृन्दावन से चैतन्यदेव का दर्शन करने आये तब उन्होंने उन लोगों से कालीयदह की घटना के बारे में पूछताछ की। वे लोग हँसते हुए बोले, "हमने सुना है कि रात में एक केवट नाव पर चढ़कर और एक दीपक जलाकर कालीयदह में मछलियाँ पकड़ता है। उसे दूर से देखकर लोगों के मन में भ्रम हो गया है कि कालीय के शरीर पर कृष्ण नृत्य करते हैं। मूर्ख लोग नाव को कालीय, दीपक को मणि और केवट को कृष्ण समझ बैठते हैं।" यह सुनकर सभी लोग हँसने लगे और बलदेव का मन भी शान्त हो गया।

इस प्रकार यमुना में स्नान, ब्राह्मण के घर भिक्षा, लीलास्थलों का दर्शन और भजन-कीर्तन में आनन्द मनाते हुए चैतन्यदेव ने कुछ काल अक्रूरघाट पर निवास किया। फिर बलभद्र भट्टाचार्य ने आगामी मकर की अन्तिम संक्रान्ति के अवसर पर प्रयाग के त्रिवेणी-संगम में स्नान करने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा, "समय कम है, शीघ्रतापूर्वक गये बिना हम वहाँ ठीक समय पर नहीं पहुँच सकेंगे।" बलभद्र का विशेष आग्रह देखकर चैतन्यदेव ने व्रजमण्डल से अविलम्ब विदा ली और शीघ्र पहुँचने के लिए उन्होंने मुख्य राजमार्ग छोड़कर शाखा मार्ग से जाने का निश्चय किया। उस वर्ष कुम्भ मेला था या नहीं, इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अत्यन्त प्राचीन काल से ही सभी सम्प्रदाय के गृही तथा साधु-संन्यासी प्रयाग में

कुम्भस्नान को अवश्यकरणीय मानते रहे हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उस वर्ष कुम्भस्नान होने के कारण ही वे लोग इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रयाग आये थे। उन दिनों भी कुम्भमेला होता था इस विषय में तो सन्देह का कोई अवकाश ही नहीं, क्योंकि इसके काफी पूर्व ही चीनी यात्री प्रयाग में वह मेला देख गये हैं। पर हाँ, प्रति वर्ष मकर संक्रान्ति के दिन स्नान तथा माघ मास में वहाँ कल्पवास करने की प्रथा भी अति प्राचीन है। (क्रमशः)

कर्मफल से सुख-दुःख

किसी को देखने पर प्रतीत होता है कि मानो सुख-भोग के लिए ही उसका जन्म हुआ हो - यदि वह वन में भी चला जाय, तो वहाँ भी सुख मानो उसके पीछे पीछे जाता है। और कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा होता है कि दुःख उसके पीछे मानो छाया के समान लगा रहता है। यह सब उनके अपने अपने पूर्ण कर्मों का फल है। योगियों के मतानुसार पुण्य-कर्म सुख लाते हैं और पाप-कर्म दुःख। जो मनुष्य कुकर्म करता है, वह क्लेश के रूप में अपने कर्म का फल अवश्य भोगता है।

— *स्वामी विवेकानन्द*

जगन्माता की बहन : श्री सारदा देवी

रामधारी सिंह दिनकर

(राष्ट्रकवि दिनकर ने श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द पर दो उत्कृष्ट लेख लिखे थे, जो उनके 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ में निबद्ध है। प्रस्तुत है माँ श्री सारदा देवी पर लिखा उनका प्रबन्ध जो धर्मयुग के २८ अप्रैल १९७४ के अंक से साभार गृहीत हुआ है। - स.)

भगवान बुद्ध, भगवान महावीर, चैतन्य महाप्रभु और तुलसीदास – इन सभी संतों ने परमार्थ की उपलब्धि के लिए अपनी पत्नियों का त्याग किया था। इस सारणी में अन्य असंख्य संतों के भी नाम लिये जा सकते हैं। एक बार श्री अरविंद से किसी शिष्य ने पूछा था, "जब संत पत्नी के साथ नहीं रह सकते, तब वे विवाह ही क्यों करते हैं ?"

चोट श्री अरविंद पर भी थी, क्योंकि उन्होंने भी तो एक प्रकार से अपनी सहधर्मिणी का त्याग ही कर रखा था, किन्तु प्रश्न के उत्तर में श्री अरविंद ने कहा, "संत ऐसा इसलिए करते हैं कि विवाह में बँधते समय उन्हें अपनी नियति का ज्ञान नहीं रहता है।"

इससे यह ध्वनि निकलती है कि जिन्हें संत बनना है, उन्हें विवाह के बंधन में नहीं बँधना चाहिए। गाँधीजी भी कहते थे, "मोक्ष से दूर रहने के कारण मनुष्य को जन्म लेना पड़ता है तथा मोक्ष से और अधिक दूर होने के कारण आदमी विवाह करता है।"

ब्रह्मचर्य की महिमा

किंतु गांधी जी ने पत्नी का त्याग नहीं किया; बल्कि, जब चार पुत्र-रत्न उन्हें प्राप्त हो गये, उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया और वे बार-बार कहते रहे कि मेरा व्रत मेरी पत्नी के सहयोग के कारण निभा है। वे यह भी कहते थे कि ब्रह्मचर्य की

जो महिमा मुझे दिखाई पड़ी है, उससे बार-बार मुझे यह सोच कर पश्चाताप होता है कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेने की बात मुझे आरम्भ में ही क्यों नहीं सूझी।

श्री अरविंद की पत्नी बहुत चाहती थीं कि श्री अरविंद उन्हें पांडिचेरी जाकर अपने साथ रहने की अनुमति दे दें। किंतु यह अनुमति श्री अरविंद ने उन्हें नहीं दी। तब मृणालिनी देवी श्री सारदा माता की शरण में गयीं। कहते हैं, जब श्री अरविंद को यह बात मालूम हुई कि मृणालिनी देवी को श्री सारदा माता का आशीर्वाद प्राप्त हो गया है, तब वे इसके लिए राजी हो गये कि मृणालिनी देवी पांडिचेरी आ कर रह सकती हैं। किंतु विधना को यह मंजूर नहीं था। मृणालिनी जी पांडिचेरी के लिए प्रस्थान करने ही वाली थीं कि कलकत्ते में उनका देहांत हो गया। अनुमान यह होता है कि जिस बात का भय प्रत्येक संत को होता है, वह भय श्री अरविंद को भी था और मृणालिनी जी को अनुमति उन्होंने तभी दी, जब उन्हें विश्वास हो गया कि श्री सारदा माता ने मृणालिनी जी को रक्षा का कवच पहना दिया है।

एक कथा यह भी है कि रज्जब जी को घरवालों ने विवाह के लिए राजी किया। लेकिन जब मौर पहन कर विवाह के लिए चले, तो उनके गुरु दादूदयाल बोले –

रज्जब, तैं गज्जब किया, सिर पर बांधा मौर।
आया था हरि भजन को, करै नरक की ठौर॥

बस, यह दोहा सुनना था कि रज्जब जी मौर फेंक कर घर से भाग गये। गृहस्थी तो उन्होंने नहीं बसायी, किंतु गृहस्थाश्रम की उन्होंने प्रशंसा जरूर लिखी :

एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग।
एक बुड़हिं वैराग्य में, इक तरहिं सो गिरही लोग॥

किंतु संतों की जो औसत विपत्ति है, उसका आख्यान कबीर के इस दोहे में मिलता है :

नारी तो हमहूं करी, तब ना किया विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार॥

लेकिन इन संतों की पत्नियाँ क्या सोचती होंगी ? यही न कि पतिदेव तो बड़े ही पवित्र और महान उद्देश्य के लिए हमारा त्याग कर गये हैं। दोषी वे नहीं, हमीं है, क्योंकि हम सचमुच नरक की खान हैं। किंतु परित्यक्ता पत्नियों के भीतर एक और प्रतिक्रिया भी होती होगी, जिसे मैथिलीशरण जी ने चैतन्य महाप्रभु की पत्नी विष्णुप्रिया के मुख से कहलाया है :

अबला के भय से भाग गये, वे हम से भी निर्बल निकले।
नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले॥

इस कठिन पृष्ठभूमि पर परमहंस रामकृष्ण और माँ सारदा का दांपत्य अद्‌भुत, अपूर्व और अत्यन्त उच्च शिखर पर आसीन दीखता है। जब श्रीरामकृष्ण भावावेश में आने लगे, लोगों ने समझा, उन पर वात या उन्माद रोग का आक्रमण हो रहा है। इस रोग के शमन के लिए घर के लोगों ने वैद्य बुलवाया, ओझा-गुणी और मांत्रिकों से गदाधर को दिखलाया, लेकिन गदाधर का रोग नहीं छूटा, निदान, माँ चंद्रादेवी ने निश्चय किया कि उनका विवाह कर दें।

विवाह के समय श्रीरामकृष्ण की आयु चौबीस साल की थी और साधना के पथ पर वे बहुत आगे जा चुके थे। अतएव मेरे जानते, श्री अरविंद की यह उक्ति कि संत जिस समय विवाह करते हैं उस समय उन्हें अपनी नियति का पता नहीं होता है, श्रीरामकृष्ण पर लागू नहीं होती है। बचपन से ही श्रीरामकृष्ण को अर्थकरी विद्या से घृणा थी और जिस समय उनका विवाह

हुआ, उस समय तक तो वे ईश्वरार्पित हो चुके थे और समस्त नारी जाति को माता समझने लगे थे । हम यह भी नहीं कह सकते कि श्रीरामकृष्ण चूँकि सरल व्यक्ति थे, इसलिए उनका विवाह जबरदस्ती कर दिया गया । नहीं, जब चन्द्रादेवी को कहीं कोई लड़की पसंद नहीं आयी, तब घर भर को परेशान देखकर स्वयं रामकृष्ण ने ही कहा, "जयरामवाटी में रहनेवाले रामचंद्र मुखोपाध्याय की कन्या से मेरा विवाह होगा, यह कभी का निश्चित है ।" निदान, लोग वहाँ जाकर रामचंद्र मुखोपाध्याय से मिले और उनकी कन्या (सारदा) से गदाधर (श्रीरामकृष्ण) का विवाह हुआ । उस समय श्रीरामकृष्ण की आयु २४ वर्ष की और श्री सारदा माँ की आयु ६ वर्ष की थी ।

पीछे युवावस्था प्राप्त होने पर माँ सारदा को लोगों के मुख से यह सुनकर चिंता होने लगी कि सारदा के पति पगले हैं, उन्हें उन्माद का रोग है । इसी चिंता से व्याकुल होकर उन्होंने दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया और कई दिनों तक पैदल चल कर वे दक्षिणेश्वर में अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित हो गयीं । कहते हैं, श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने ही कमरे में वास दिया और बड़े ही सम्मान से रखा ।

सारदा माता जब दक्षिणेश्वर की यात्रा पर थीं, रास्ते में वे ज्वराक्रांत हो गयीं । उस रात उन्हें एक अनुभव हुआ । एक बार श्री सारदा माता ने श्रीरामकृष्ण के स्त्री-भक्तों को बताया था, "....मेरा शरीर ज्वर के दाह से जल रहा था और मैं बेसुध पड़ी हुई थी । ऐसी अवस्था में मुझे ऐसा दिखाई दिया कि एक स्त्री मेरे सिरहाने के पास आकर बैठी है, उसका वर्ण काला है, तथापि मुख उसका बहुत सुन्दर है । पास में बैठकर वह मेरे सिर पर हाथ फेरने लगी । उसके शीतल और कोमल हस्तस्पर्श से मेरा दाह कम पड़ने लगा । मैंने उससे पूछा, 'देवी, आप कहाँ से

आयी हैं ?' वह बोली, 'दक्षिणेश्वर से ।' मैं चकित होकर बोली, '.... क्या आप दक्षिणेश्वर से आयी हैं ? मैं भी वहीं जाने के लिए रवाना हुई हूँ । मेरी इच्छा है कि वहाँ जाकर उनके (श्रीरामकृष्ण के) दर्शन करूँ और उनकी सेवा में कुछ समय बिताऊँ । पर यह विचार एक ओर रहा और मैं यहाँ बीमार पड़ गयी हूँ । हे देवि, क्या मेरे भाग्य में उनके दर्शन हैं ?' वह स्त्री बोली, 'हैं नहीं क्यों ? हाँ, अवश्य हैं । तू अब अच्छी हो जायेगी। वहाँ जायेगी, उनके दर्शन करेगी, सब कुछ अच्छा होगा। तेरे ही लिए तो मैंने उन्हें वहाँ रोक रखा है ।' मैं बोली, 'सच ? पर हे देवि, आप मेरी कौन होती हैं ?' वह बोली, 'मैं तेरी बहन हूँ ।' इसके बाद मैं होश में आ गयी । ”

परमहंस रामकृष्ण का जैसे संसार की अन्य नारियों के प्रति मातृभाव था, उसी प्रकार उस रमणी को भी वे अपनी माता ही समझते थे, जिसके साथ उनका विवाह हुआ था । श्री सारदा माँ पति के कमरे में कई महीने सोयी थीं । एक रात जब वे अपने पति के पाँव दबा रही थीं, उन्होंने पति से पूछा, "..... अच्छा, आप मुझे क्या समझते हैं ?" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "जो माता जगत का निर्माण करके मन्दिर में खड़ी हैं, जो माता इस शरीर को जन्म देकर नौबतखाने में ठहरी हुई हैं, वहीं इस समय मेरे पाँव दबा रही हैं ।"

एक रात श्री सारदा माँ श्रीरामकृष्ण के कमरे में सोयी हुई थीं और श्रीरामकृष्ण जगे, बैठे उन्हें देख रहे थे । सहसा उनके मन में कोई भाव उठा । वे अपने आपको सम्बोधित करके बोल उठे, "अरे मन, जिस नारी शरीर के लिए सांसारिक लोग व्याकुल रहते हैं, वह नारी-शरीर यही है । भीतर एक और बाहर दूसरा, ऐसा मत कर । यदि यह शरीर तुझे चाहिए, तो वह यहीं पास पड़ा है ।" ऐसा कहकर उन्होंने श्री सारदा माँ को छूने के

लिए अपना हाथ बढ़ाया। किन्तु, छूने के पहले ही उन्हें समाधि लग गयी और वह इतनी गहरी लगी कि प्रातःकाल तक वे समाधि में ही रहे।

पत्नी पूजा

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि उनका ब्रह्मचर्यव्रत इसलिए निभ सका कि उनकी पत्नी ने पूरे संयम से उनका साथ दिया— "वही (पत्नी) यदि इतनी शुद्ध और पवित्र न होती और कामासक्ति से विवेकहीन बन जाती, तो हमारे संयम का बाँध टूटकर देहबुद्धि का उदय हो जाता या नहीं, यह कौन कह सकता है ? उसके साथ एकान्त में रहते हुए मुझे निश्चय हो गया कि विवाह के बाद मैंने श्री जगदम्बा से अत्यन्त व्याकुलता के साथ जो प्रार्थना की थी कि 'हे माता, इसके मन से सभी काम-वासना नष्ट कर दे,' उस प्रार्थना को माता ने अवश्य सुन लिया।"

एक बार श्रीरामकृष्ण ने अपनी पत्नी की षोड़स-पूजा भी की थी। उस दिन महाकाली के आसन पर उन्होंने श्री सारदा माँ को बिठाया था और स्वयं पुजारी के स्थान पर बैठे थे। और उन्होंने प्रार्थना की थी, "हे बाले, हे सर्वशक्ति-अधीश्वरी माते, हे त्रिपुरसुन्दरी, सिद्धि का द्वार खोल दें और इसका (पत्नी का) मन और शरीर पवित्र करके इसमें प्रकट हो और सबका कल्याण कर।" फिर उन्होंने 'शिवगेहिनी, गौरी और नारायणी' कहकर अपनी पत्नी को प्रणाम किया और दोनों समाधि में चले गये।

वैराग्य लेनेवाले पुरुष नारियों का अपमान ही तो करते थे। श्रीरामकृष्ण ने अपनी पत्नी को साथ रखकर, उन्हें सिद्धि प्रदान कर नारी जाति के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया। उनके जीवन से शिक्षा यह निकलती है कि विवाह के बाद भी पति-पत्नी को ब्रह्मचर्य का ही जीवन बिताना चाहिए। किन्तु यह लगभग अमानुषिक कार्य है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहा करते थे

– जब मैं सोलह नाच नाचूँगा, तब कहीं तुम लोग एकाध नाच नाच सकोगे। यह एकाध नाच क्या हो सकता है ? अपनी पत्नी को छोड़कर और किसी नारी के पास मत जाओ। श्रीरामकृष्ण यह भी कहते थे कि दो-एक सन्तान उत्पन्न कर लेने के बाद पति और पत्नी को भाई-बहन के समान रहना आरम्भ कर देना चाहिए। और श्री सारदा माता का भी यही उपदेश था।

प्रफुल्लता

तुम धर्म पथ में अपने अग्रसर होने का प्रथम लक्षण यह देखोगे कि तुम दिन पर दिन प्रफुल्ल होते जा रहे हो। यदि कोई व्यक्ति विषादयुक्त दिखे, तो वह अजीर्ण का फल भले ही हो, पर धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। सुख का भाव ही सत्त्व का स्वाभाविक धर्म है; सात्त्विक मनुष्य को सब कुछ सुखमय प्रतीत होता है। विषादपूर्ण उतरा हुआ चेहरा तमोगुण का एक लक्षण है।

– *स्वामी विवेकानन्द*

स्वामीजी का व्यावहारिक जीवन-दर्शन (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

ईश्वर

किसी भी सार्थक व्यावहारिक जीवन दर्शन की सफलता एवं व्यावहारिकता ईश्वर सम्बन्धी उसकी धारणा पर पूर्णतः नहीं तो अधिकांश में अवश्य ही निर्भर करती है। विश्व के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर भी हम यह स्पष्ट देख पाते हैं कि जिन धर्मों तथा दर्शनों ने ईश्वर के प्रति एकांगी या पूर्वाग्रही दृष्टिकोण रखा है उनके द्वारा दिये गये जीवन दर्शन से भले ही मानव समाज के एक समूह विशेष का कुछ लाभ हुआ हो, किन्तु कालांतर में अधिकांश मानव समाज को उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। स्वामीजी ने इतिहास का भी गहन अध्ययन किया था, अतः उनकी तीक्ष्ण दृष्टि में यह दोष छिपा न रहा। इसलिए उन्होंने ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं का अध्ययन किया, उन पर विचार किया, तथा अन्त में अपने महान गुरु श्रीरामकृष्णदेव के निर्देशानुसार साधन कर ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति की और तब उन्होंने कल्याणकारी ईश्वर सम्बन्धी धारणाएँ हमें दीं।

उपासक के साथ उपास्य की भी उन्नति

उपासक के साथ उपास्य की भी क्रमोन्नति का सिद्धान्त देकर स्वामीजी ने ईश्वर सम्बन्धी हमारी धारणा को एक बहुआयामी तथा अत्यन्त उदार भाव दिया है। 'माया और ईश्वर धारणा का क्रमविकास' नामक अपने व्याख्यान में विभिन्न जातियों में ईश्वर की धारणा की चर्चा करते हुए स्वामीजी कहते हैं – "प्राचीन काल की सामाजिक अवस्था आज नहीं रही। जिस प्रकार प्राचीन यहूदी आज के तीक्ष्णबुद्धि यहूदी में परिणत हो गया है, जिस प्रकार प्राचीन आर्य आज के बुद्धिमान हिन्दू में परिणत हो गया

है, उसी प्रकार जिहोवा की और अन्य देवताओं की भी क्रमोन्नति हुई है। हम इतनी ही भूल करते हैं कि हम उपासक की क्रमोन्नति तो स्वीकार करते हैं परन्तु ईश्वर की नहीं। हम उपासकों को जिस प्रकार उन्नति का श्रेय देते हैं उसी प्रकार ईश्वर को नहीं देना चाहते।"

हम कुछ भावविशेष को लेकर साधना करते हैं। ठीक-ठीक साधना करने पर यथासमय हमारे वे भाव परिपुष्ट होकर उन्नत तथा विकसित होते हैं, उसके साथ-साथ हमारी चेतना का भी विकास होता है, और चेतना के विकास के साथ-साथ हमारी ईश्वर सम्बन्धी धारणा भी सुस्पष्ट तथा उन्नत होती जाती है। कुछ लोग ईश्वर विकास सम्बन्धी इस धारणा पर आश्चर्य करते हैं। उसके उत्तर में स्वामी जी कहते हैं –

"आप शायद यह आश्चर्य करें कि देवता और ईश्वर की भी कहीं उन्नति होती है ?" तो इस पर ऐसा भी कहा जा सकता है कि क्या मनुष्य की भी उन्नति होती है ? "....इस मनुष्य के भीतर जो प्रकृत मनुष्य है वह अचल, अपरिणामी, शुद्ध और नित्यमुक्त है। जिस प्रकार यह मनुष्य उस असल मनुष्य की छाया मात्र है, उसी प्रकार हमारी ईश्वर सम्बन्धी धारणाएँ केवल हमारे मन की सृष्टि हैं। वे उस प्रकृत ईश्वर का आंशिक प्रकाश आभास मात्र हैं। समस्त आंशिक प्रकाशों के पीछे प्रकृत ईश्वर विद्यमान है और वह नित्यमुक्त शुद्ध अपरिणामी है।"

इन कतिपय वाक्यों में स्वामीजी ने ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं को लेकर होने वाले झगड़ों का विश्वजनीन समाधान सदा के लिए दे दिया है। उनके द्वारा दिये गये ईश्वर धारणा सम्बन्धी इन सिद्धान्तों को एक बार भलीभाँति समझ लेने पर फिर मनुष्य किसी का विरोध नहीं करता, किसी से झगड़ा नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि किसी भी व्यक्ति या जाति की

ईश्वर सम्बन्धी धारणा उस व्यक्ति और जाति की मानसिक उन्नति तथा चेतना के विकास पर निर्भर करती है। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी जानता है कि उस ईश्वर धारणा के पीछे अखंड अद्वय नित्य शुद्ध अपरिणामी ईश्वर विराजमान हैं। ईश्वर धारणा के रूप में उनका ही प्रकाश उस व्यक्ति और जाति के भीतर से फूट रहा है तथा विकास के क्रम में एक ऐसा अवसर अवश्य आयोगा जब कि वह व्यक्ति तथा जाति उच्चतम ईश्वर धारणा को प्रकाशित करने में पूर्ण समर्थ होगी।

निर्गुण सगुण एक ही ईश्वर

ईश्वर धारणा सम्बन्धी मतभेद और झगड़ों का एक बहुत बड़ा कारण यह विवाद है कि ईश्वर निर्गुण हैं या सगुण ? वे निराकार हैं या साकार ? इस पचड़े में पड़कर लोग धर्म को भूल अपने अपने रूढ़ मतवादों की स्थापना और प्रतिष्ठा के लिए रक्तपात तक करने में नहीं हिचकते हैं। स्वामीजी ने असंदिग्ध शब्दों में इस समस्या का शाश्वत समाधान हमें दिया है। भक्तियोग पर दिये गये अपने एक व्याख्यान 'ईश्वर का दार्शनिक विवेचन' में स्वामीजी कहते हैं – "ईश्वर कौन हैं ? जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है वही ईश्वर है। वह अनन्त शुद्ध नित्यमुक्त सर्वशक्तिमान सर्वत्र परम कारुणिक और गुरुओं का भी गुरु है और सर्वोपरि वह ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है। ये सारी परिभाषाएँ निश्चय ही सगुण ईश्वर की हैं। तो क्या ईश्वर दो हैं ? एक सच्चिदानन्द रूप, जिसे ज्ञानी नेति नेति करके प्राप्त करता है और दूसरा भक्त का वह प्रेममय भगवान ? नहीं, वह सच्चिदानन्द ही प्रेममय भगवान है, वह सगुण और निर्गुण दोनों है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर ब्रह्म से भिन्न अयवा पृथक नहीं है। सब कुछ वही एकमेव अद्वितीय ब्रह्म है।"

सगुण निर्गुण ईश्वर दोनों आवश्यक

बहुत बार यह प्रश्न उठता है कि जब सगुण तथा निर्गुण ईश्वर एक ही हैं तो क्यों न एकेश्वरवाद का ही प्रचार किया जाय तथा सभी को ईश्वर सम्बन्धी एक ही धारणा दी जाय। ईश्वर के सगुण निर्गुण रूप को माननेवालों से भी यह भूल प्रायः हो जाया करती है। इस भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए स्वामीजी कहते है – "हमारे पण्डितों की यह धारणा है कि इतने सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय सत्य है, बाकी सब झूठे हैं, यद्यपि उन्होंने श्रुतियों में देखा है – 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'– सत्ता एक ही है पर मुनियों ने भिन्न भिन्न नामों से उसका वर्णन किया है। ....भारत के कुछ थोड़े से पण्डितों को छोड़कर, मैं पण्डित शब्द से यथार्थ धार्मिक एवं ज्ञानी व्यक्तियों को लक्ष्य कर रहा हूँ। हम सदा सर्वदा ही इस तत्त्व को भूल जाते हैं। हम इस महान तत्त्व को सदा भूल जाते हैं और तुम देखोगे अधिकांश पण्डित, लगभग ७५ फीसदी इस मत के पोषक हैं कि या तो अद्वैतवाद सत्य है अथवा विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैतवाद।"

स्वामीजी मनुष्य की प्रकृति के परम पारखी थे। उन्होंने अनुभव द्वारा यह जान लिया था कि भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को उनकी प्रकृति के अनुसार ईश्वर सम्बन्धी भिन्न भिन्न धारणाओं की आवश्यकता है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव उन्होंने अपने महान गुरु श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में किया था। उनके जीवन का उदाहरण देते हुए वे हमें बताते हैं – "उनके जीवन की आलोचना करने से ही उभय मतों की आवश्यकता समझ में आ जाती है। वे गणित ज्योतिष के भूकेन्द्रिक (Geocentric) और सूर्यकेन्द्रिक (Haliocentric) मतों की तरह

हैं। जब पहले पहल बालक को ज्योतिष की शिक्षा दी जाती है, तब उसे भूकेन्द्रिक मत से ही पहले सिखाया जाता है, परन्तु जब वह ज्योतिष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का अध्ययन करता है, तब सूर्यकेन्द्रिक मत की शिक्षा उसके लिए आवश्यक हो जाती है। तब वह ज्योतिष के तत्त्व पहले से और अच्छा समझता है।"

संसार के अधिकांश लोग धर्मजीवन में बालक के ही समान हैं। आध्यात्मिक जीवन के उच्च तत्त्वों को सहसा समझ लेना उनके लिए सम्भव नहीं है; क्योंकि हमारा सारा ज्ञान, अनुभव आदि स्थूल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रहता है, जबकि धार्मिक और आध्यात्मिक तत्त्व प्रमुखतः इन्द्रियातीत हैं। अतः साधारण व्यक्ति के लिए जो कि अभी पंचेन्द्रियों से होने वाले ज्ञान के अतिरिक्त और किसी ज्ञान की धारणा नहीं कर सकता, उसके लिए सगुण साकार ईश्वर की धारणा अर्थात् द्वैतवाद की नितान्त आवश्यकता है। उसके बिना उसका काम चल ही नहीं सकता। स्वामीजी ने प्रायः चेतावनी के स्वर में कहा है – "पंचेन्द्रिय में फँसा हुआ जीव स्वभावतः द्वैतवादी होता है। जब तक हम पंचेन्द्रिय में पड़े हैं, तब तक हम सगुण ईश्वर ही देख सकते हैं – सगुण ईश्वर के सिवा और दूसरा भाव हम नहीं देख सकते। ....रामानुज कहते हैं, 'जब तक तुम अपने को देह, मन या जीव सोचोगे तब तक तुम्हारे ज्ञान की हर एक क्रिया में जीव जगत और इन दोनों के कारण स्वरूप वस्तु विशेष का ज्ञान रहेगा'।"

किन्तु द्वैतज्ञान आध्यात्मिक अनुभव की चरम अवस्था नहीं है। आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभव की परम अवस्था तो अद्वैत ज्ञान ही है। इसी सन्दर्भ में स्वामीजी पुनः कहते हैं, "परन्तु मनुष्य के जीवन में कभी कभी ऐसा भी समय आता है जब शरीर ज्ञान बिलकुल चला जाता है, जब मन भी क्रमशः

सूक्ष्मानुसूक्ष्म होता हुआ प्रायः अन्तर्हित हो जाता है, जब देह बुद्धि में डाल देने वाली भीति और दुर्बलता के सभी भाव मिट जाते हैं – तभी केवल तभी उस प्राचीन महान उपदेश की सत्यता समझ में आती है। वह उपदेश है –

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थितः॥

"जिसका मन साम्य भाव में अवस्थित है उन्होंने यहीं संसार को जीत लिया है। ब्रह्म निर्दोष सर्वत्र सम है, अतएव वे ब्रह्म ही में अवस्थित हैं।"

सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततोयाति परां गतिम्॥

"सर्वत्र ईश्वर को समभाव से सर्वत्र अवस्थित देखकर वे आत्मा परमात्मा की हिंसा नहीं करते, अतएव परम गति को प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी ने ईश्वर सम्बन्धी एक ऐसी उदार तथा विशाल धारणा हमें दी है जो सार्वलौकिक एवं सार्वजनीन है तथा जिसे सभी धर्मानुयायी व्यक्ति अपनी अपनी आस्था, विश्वास एवं अधिकार के अनुसार ग्रहण कर सकते हैं।

मनुष्य का भविष्य

किसी भी जीवन दर्शन में भविष्य की धारणा इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें ईश्वर, जीव तथा जगत सम्बन्धी धारणा क्या है ? यदि वह दर्शन भौतिकवादी है तो उसमें ईश्वर आत्मा आदि तत्त्वों के लिए कोई स्थान नहीं। इन्द्रियगम्य भौतिक जगत ही उस दर्शन का एकमात्र सत्य है और क्योंकि सभी भौतिक वस्तुएँ किसी एक निश्चित समय में उत्पन्न हुई हैं अतः भौतिक नियमों के अनुसार ही किसी एक निश्चित समय में

उनका विनाश भी अवश्य होगा, अतः भौतिकवादी जीवन दर्शन का भविष्य विनाश – समूल विनाश ही है। वहाँ विनाश अन्धकार के अतिरिक्त और किसी भविष्य की आशा नहीं है।

किन्तु जिन दर्शनों में इस भौतिक जगत के पीछे एक चैतन्य सत्ता की धारणा की गयी है, उसका साक्षात्कार किया गया है उनमें मनुष्य तथा जगत का भविष्य अन्धकारमय विनाश न होकर एक शाश्वत अखण्ड प्रकाश स्वरूप चैतन्य सत्ता की अनुभूति तथा अमरत्व है। स्वामी विवेकानन्द ने हमें एक ऐसा ही जीवन दर्शन दिया है। उनके द्वारा प्रणीत दर्शन विधेयात्मक तथा आशावादी है।

हम स्वयं अपने भाग्य विधाता हैं

भविष्य का प्रश्न तभी उठता है जबकि हमें स्वाधीनता प्राप्त हो। जो स्वाधीन नहीं वह अपने भविष्य का निर्णय कैसे कर सकता है ? उसके भविष्य का निर्णय तो वही सत्ता कर सकती है जिसके कि वह आधीन है। विश्व के बहुत से धर्म तथा दर्शनों की यह धारणा है कि मनुष्य नितान्त पराधीन है। एक सर्वतंत्र स्वतंत्र ऐसी सत्ता है जिसे गॉड, अल्ला, मसीहा, भगवान आदि जो भी कहें, वही मनुष्य का भाग्यनिर्माता है। उसी के इच्छा से मनुष्य सुखी दुखी, अच्छा, बुरा आदि होता है। उसके अपने हाथ में कुछ नहीं है। इस प्रकार की धारणा मनुष्य को निरीह और तुच्छ बना देती है। वह अपने भविष्य के प्रति परमुखापेक्षी हो जाता है। स्वामीजी के जीवन-दर्शन में ऐसे किसी भाव को किंचित् भी स्थान नहीं है। नरकेसरी विवेकानन्द ने स्व प्रयत्न से महान पुरुषार्थ द्वारा सभी कठिनाइयों, बाधा-विघ्नों आदि को जीत कर स्वयं के जीवन को परमात्मा की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ उपकरण बनाया था। मनुष्य जीवन में संभाव्य परमोत्कृष्ट शक्ति

उनके पूत जीवन में पूर्णरूप से विकसित तथा प्रकट हुई थी। अपने जीवन के निर्माता वे स्वयं थे और इसीलिए उन्होंने मानव मात्र का आह्वान कर वज्र दृढ़ शब्दों में कहा – "हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं। हमारा भाग्य यदि खोटा है तो भी कोई दूसरा दोषी नहीं है; और यदि हमारे भाग्य अच्छे हों तो भी कोई दूसरा प्रशंसा का पात्र नहीं। वायु सर्वदा बह रही है। जिन जहाजों के पाल खुले रहते हैं, वायु उन्हीं का साथ देती है और वे आगे बढ़ जाते हैं। पर जिनके पाल नहीं खुले रहते उन पर वायु नहीं लगती। तो क्या यह वायु का दोष है ? हममें कोई सुखी है तो कोई दुखी। यह क्या करुणामय पिता का दोष है, जिनकी कृपावायु दिन-रात बह रही है, जिनकी दया का अन्त नहीं है ? हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं।"

स्वामीजी द्वारा दिया गया यह जीवन-दर्शन मनुष्य को भाग्यवादी और अकर्मण्य होने से बचाता है। यह मनुष्य को प्रेरणा देता है, उससे कहता है – भाई आज अपनी हीन दशा या दुख के कारण निराश न होओ। उठो, कमर कस कर पुनः काम में लग जाओ। तुम्हारे विगत कर्मों ने यदि तुम्हें दुखी और हीन बनाया है तो वर्तमान का सदुपयोग कर ऐसे शुभ कर्म करो जो तुम्हें भविष्य में सुखी और महान बना देंगे। तुम्हारा भाग्य तुम्हारी मुट्ठी में है। उठो और कर्म में जुट जाओ। उज्जवल भविष्य तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।

हमने देखा कि स्वाधीनता ही निर्णायक है। अब देखें कि स्वार्धीनता का तात्पर्य क्या है ? स्वाधीनता का तात्पर्य है अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेना। अपने भले-बुरे के लिये स्वयं को उत्तरदायी मानना। अपने पैरों पर खड़े होना। मनुष्य के भविष्य के लिए स्वामीजी ने यही शर्त रखी है। वे कहते है – "अतएव अपने दोषों के लिए तुम किसी को उत्तरदायी न समझो और

अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयत्न करो, सब कामों के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझो । कहो कि जिन कष्टों को हम झेल रहे हैं वह हमारे ही किये हुए कर्मों के फल हैं ।"

सारी शक्ति हमारे भीतर है

यह मान भी लेने पर कि हम अपने भाग्य के निर्माता हैं, कई बार हमारे मन में यह सन्देह उठता है कि भाग्य निर्माण के लिए आवश्यक शक्ति हमें कहाँ से प्राप्त होगी ? सहायता कहाँ से आयेगी ? स्वामीजी हमें बताते हैं कि सम्पूर्ण शक्ति हमारे भीतर ही है । वे कहते हैं – "अतएव, उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ । सब उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लो । तुम जो कुछ बल या सहायता चाहते हो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है । अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ लो । ....अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है ।"

अतः इस बात के लिए किसी प्रकार तर्क करने या प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य का भविष्य उससे भिन्न अन्य किसी शक्ति के हाथों में है, जो अपनी इच्छा से मनुष्य को सुखी या दुखी बनाये । अथवा उसे उन्नत या अवनत करे । मनुष्य का भविष्य उसके स्वयं के विचारों तथा कर्मों पर ही निर्भर करता है । अतः विवेकपूर्वक कर्म कर मनुष्य अपने भविष्य को उज्ज्वल तथा आनन्दमय बना सकता है ।

विश्व एक नीड़ हो उठेगा

संभावित अणुयुद्ध की महा विभीषिका से संत्रस्त, सत्ताधारियों के अत्याचार से पीड़ित, धनपतियों के शोषण से जर्जरित मानव के सामने एक दूसरा महान सन्देहास्पद प्रश्न है – हमारे वर्तमान राष्ट्रों का, हमारी पृथ्वी का भविष्य क्या होगा ?

त्रिकालदर्शी ऋषि विवेकानन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि दोनों के भविष्य को देखा था । तभी तो उन्होंने अपने एक प्रसिद्ध व्याख्यान 'बहुत्व में एकत्व' में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है – "क्रमशः राष्ट्रों में परस्पर मेल होता जा रहा है, और मेरी यह दृढ़ धारणा है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब राष्ट्र नामक कोई वस्तु नहीं रह जायेगी । राष्ट्र-राष्ट्र का भेद दूर हो जायेगा । हम चाहे इच्छा करें या न करें हम जिस एकत्व की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं वह एक दिन प्रकाशित होगी ही ।"

हम लोगों के मन में सन्देह न रह जाय इसलिए अपनी इस भविष्यवाणी के पीछे जो शाश्वत सिद्धान्त है, जो दृढ़ आधार है वह भी स्वामीजी ने हमें बताया है । उसी व्याख्यान में वे आगे कहते है – "वास्तव में हम सब के बीच भ्रातृ सम्बन्ध स्वाभाविक ही है, पर हम सब इस समय पृथक हो गये हैं । ऐसा समय अवश्य आयेगा जब ये सब विभिन्न भाव आकर मिल जायेंगे – प्रत्येक व्यक्ति वैज्ञानिक विषय के ही समान आध्यात्मिक विषयों में भी व्यवहारकुशल हो जायेगा और तब वह एकत्व, वह सम्मिलन जगत् में व्याप्त हो जायेगा । तब सारा जगत जीवन्मुक्त हो जायेगा । अपनी ईर्ष्या, घृणा, मेल और विरोध में से होते हुए हम उसी एक दिशा में चले जा रहे हैं ।"

उपसंहार

हमारा जीवन प्रायः टुकड़ों में बँटा होता है । हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत कुछ पाना चाहते हैं । साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म, आध्यात्मिकता और न जाने क्या क्या ? सभी क्षेत्रों में हम प्रवेश चाहते हैं; अधिकार चाहते हैं । इन सबके साथ-साथ संसार का सुख, भोग विलास, वैभव तो चाहते ही हैं । अधिकार लिप्सा हमारी नींद हराम किये रहती है ।

यही कारण है कि हम जीवन में चाह कर भी शान्ति लाभ नहीं र पाते । सुखी और प्रसन्न रहने की चेष्टा करते हुए भी हम दुखी और अप्रसन्न ही रह जाते हैं । तथा अन्ततः हमारा जीवन हमारी भग्न आशा आकांक्षाओं का एक स्तूप मात्र रह जाता है, जिसकी चोटी पर बैठे हम विवशता का जीवन इसलिए जीते हैं, क्योंकि मृत्यु ने अभी तक हमारे गले में अपना फंदा नहीं डाला है।

जीवन को टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता । हमारे जीवन का कुछ भाग आध्यात्मिक हो और कुछ सांसारिक ! ऐसा नहीं हो सकता । जीवन एक पूर्ण इकाई है और इसलिए उसे एक इकाई के रूप में ही जीना पड़ेगा । या तो हम भौतिकवादी, संसारी होंगे या आध्यात्मवादी, ईश्वर केन्द्रिक होंगे । दोनों एक साथ कभी नहीं चल सकते ।

हमारी इस दुरवस्था के मूल में है स्वस्थ और सम्यक् जीवन दर्शन का अभाव । बिना स्वस्थ और सम्यक् जीवन दर्शन के हमारा जीवन कभी भी व्यवस्थित तथा उन्नत नहीं हो सकता । स्वस्थ जीवन दर्शन ही हमें जीवन का महान लक्ष्य प्रदान करता है और जब मनुष्य के जीवन का लक्ष्य महान होता है तब उसकी चेष्टाएँ, जीवनचर्या आदि भी उसी के अनुरूप होने लगती हैं, तथा धीरे-धीरे उसका जीवन महानता की ओर बढ़ता जाता है ।

बिना स्वस्थ और सम्यक् जीवन-दर्शन के हमारी निम्न वृत्तियों के नियंत्रण तथा दमन का हमारे पास कोई उपाय नहीं है । स्वस्थ और सम्यक् जीवन-दर्शन ही वह सशक्त प्रहरी है जो कि मनुष्य की पशु प्रवृत्तियों को नियंत्रित रख सकता है । और हम सभी यह जानते हैं कि अपनी हीन प्रवृत्तियों के नियंत्रण और दमन के बिना मनुष्य कभी भी महान होना तो दूर रहा साधारण

भद्र व्यक्ति भी नहीं हो सकता। अतः व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि के कल्याण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि समाज के सामने एक स्वस्थ एवं सम्यक् जीवन-दर्शन रखा जाय। उसका प्रचार-प्रसार किया जाय; सर्वोपरि उसका जीवन में आचरण किया जाय। यही युग की महती आवश्यकता है।

विश्व मानव स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा दिया गया जीवन दर्शन वह दिव्य सुधा है जो जाति, धर्म, लिंग, देश निरपेक्ष मानव मात्र के परम कल्याण में पूर्णतः समर्थ है। अतः विश्व का कल्याण इस जीवन दर्शन के प्रचार प्रसार तथा आचरण में सन्निहित है।

सच्चिदानन्दरूपो यः आत्मज्ञः स्थितधीश्वरः।
पायात् सोऽस्मान् सदा देवो रामकृष्णः सतां वरः॥

– जो सच्चिदानन्द के मूर्तरूप हैं, आत्मज्ञानी हैं तथा स्थितधी महापुरूषों के स्वामी हैं, वे सत्पुरुषों में अग्रगण्य श्रीरामकृष्ण सदैव हमारी रक्षा करें।

– रवीन्द्रनाथ गुरु

अज्ञेयवादी इंगरसोल

स्वामी विदेहात्मानन्द

रावर्ट ग्रीन इंगरसोल का जन्म अमेरिका के ड्रेसडेन नामक स्थान में ११ अगस्त १८३३ ई. को हुआ था। उनके अशिक्षित होने के बावजूद, उनकी प्रतिभा तथा वाग्वैभव के कारण २१ वर्ष की आयु में ही उन्हें इलिनाएस बार में एक कानूनी अधिवक्ता के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। न्यूयार्क तथा वाशिंगटन में भी उनकी वकालत काफी चल निकली थी। परवर्ती काल में वे इलिनाएस प्रान्त के एटार्नी-जनरल नियुक्त हुए। आगे चलकर अमेरिका की सक्रिय राजनीति में भाग लेकर उन्होंने काफी महत्वपूर्ण कार्य किये। राजनीतिक क्षेत्र में विशेष नाम होने के बावजूद उनके धर्म विरोधी विचारों के कारण उन्हें सरकार में कोई उच्च पद न मिल सका था।

एक लोकप्रिय वक्ता के रूप में ही वे सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। अपने व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने बाइबिल की उच्चतर समालोचना, वैज्ञानिक बुद्धिवाद तथा एक मानवतावादी दर्शन का प्रचार किया और वे एक 'महान अज्ञेयवादी' के रूप में जाने जाने लगे। अमेरिका पहुँचने के कुछ काल बाद ही स्वामीजी ने उनकी लोकप्रियता से अवगत कराते हुए आलासिंगा को लिखा था – "व्याख्यान देना इस देश का बड़ा लाभकारी व्यवसाय है और कभी-कभी उससे खूब धन भी प्राप्त होता है। श्री इंगरसोल को प्रति व्याख्यान पाँच सौ से लेकर छः सौ डालर तक मिलते हैं। इस देश में वे बड़े प्रसिद्ध वक्ता हैं।" कभी-कभी तो उनके एक ही संध्या के कार्यक्रम से कई हजार डालर तक की आय हुआ करती थी। इंगरसोल के व्याख्यानों के कई संकलन भी प्रकाशित हुए थे, जिनमें प्रमुख हैं – 'हजरत मूसा की कुछ भूलें'

(१८७९ ई.), 'मैं अज्ञेयवादी क्यों हूँ' (१८९६ ई.) इत्यादि। २१ जुलाई १८९९ ई. के दिन उनका देहावसान हुआ। तदुपरांत १९०२ ई. में उनकी ग्रन्थावली १२ खण्डों में प्रकाशित हुई थी।

शिकागो धर्म-महासभा की समाप्ति के पश्चात् स्वामीजी की उसी नगर में उनसे एकाधिक बार मुलाकत हुई थी तथा विविध दार्शनिक विषयों पर चर्चा भी हुई थी। हमें यह पता नहीं कि वे कब, कहाँ और किन परिस्थितियों में मिले थे, परन्तु स्वामीजी की जीवनी तथा अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करने से उनके बीच हुई वार्तालाप का हमें थोड़ा सा आभास मिलता है। इंगरसोल काफी वर्षों से ईसाई धर्म में फैली रूढ़ियों, भ्रान्तियों, अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों की, जो कि आधुनिक विज्ञान तथा युक्तिवाद की विरोधी थीं, समालोचना किया करते थे। वे धर्म को त्यागकर उपयोगितावादी हो गये थे और इस वजह से उन्हें कट्टर ईसाई समाज का कोपभाजन भी बनना पड़ा था। दूसरी ओर स्वामीजी भी तर्कसंगत व विज्ञानसम्मत अद्वैतवाद के पक्ष में यदा-कदा ईसाई अन्धविश्वासों की कलई खोलकर रख देते थे। अतः बातचीत के दौरान इन महान अज्ञेयवादी ने स्वामीजी को सावधान करते हुए कहा कि उन्हें लोगों की जीवनपद्धति तथा रूढ़िवाद की आलोचना करते समय थोड़ा संयम बरतना उचित होगा और ज्यादा स्पष्टवादी होना उनके लिए खतरनाक साबित हो सकता है। इस प्रसंग में इंगरसोल ने कहा था – "यदि आप कोई पचास वर्ष पूर्व यहाँ पर ज्ञान सिखाने को आये होते तो आपको फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या फिर जीवित जला दिया जाता। यहाँ तक कि यदि आप उसके काफी बाद भी आये होते तो आपको गाँवों से पत्थर मारकर निकाल दिया गया होता।" स्वामीजी को पाश्चात्य जनता की इस धर्मान्धता की बात सुनकर ज्यादा विस्मय नहीं हुआ, क्योंकि शिकागो के मेले में हुआ उनका

कटु अनुभव अभी ताजा ही था, जबकि एक पढ़े-लिखे तथाकथित सभ्य अमेरिकन ने अकारण ही उनके कपड़े का छोर पकड़कर खींचा था फिर उन्हें अंग्रेजी बोलते देखकर माफी भी माँगी थी। धर्म के मामले में पाश्चात्य देशवासी तब भी इतने उदार न हो सके थे। तो भी इंगरसोल, जहाँ धर्मध्वंसी थे, वहाँ स्वामीजी सिर्फ धार्मिक संकीर्णता के ध्वंसी थे। अतः स्वामीजी को विरोध तो काफी मिला था पर साथ ही समर्थन भी कम न मिला था।

यद्यपि दोनों ही सत्य और मानवतावाद के प्रचारक थे, परन्तु दोनों की विचारधारा में आकाश-पाताल का अन्तर था। इंगरसोल अपने बुद्धिवाद तथा तर्कशक्ति के बल पर सभी धार्मिक विचारों का विरोध किया करते थे, जबकि स्वामीजी बुद्धिवादी होने के बावजूद सभी धर्मों को सत्य मानते थे, ईसा मसीह के प्रति भी श्रद्धा रखते थे तथा वर्तमान वैज्ञानिक युग के उपयुक्त एक नवीन धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे थे। इन दोनों विश्वविख्यात वक्ताओं के दृष्टिकोण का पार्थक्य उनके बीच हुई निम्नलिखित वार्ता से स्पष्ट हो जाता है। इंगरसोल ने उनसे कहा था – "इस जगत् से जितना अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके। उसे प्राप्त करने की चेष्टा सभी को करनी चाहिए – यह मेरा विश्वास है। सन्तरे को दबाकर जितना भी हो सके, हम सारा रस निचोड़ लें, ताकि रस की एक बूँद भी व्यर्थ न जाय – क्योंकि हमें इस जगत् को छोड़ किसी परलोक के अस्तित्व के बारे में प्रमाण नहीं मिलता है। तो फिर इस जीवन को एक झूठी आशा के आधार पर सांसारिक सुखों से वंचित करने में क्या लाभ ? पता नहीं कब मौत आ जाय, अतः जहाँ तक सम्भव हो तत्परता के साथ इस जगत् का उपभोग करना चाहिए।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया – "इस जगत् रूपी सन्तरे को निचोड़ने की मैं आपकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट प्रणाली जानता हूँ

– और मुझे उससे अधिक रस की प्राप्ति होती है। मैं जानता हूँ, मेरी मृत्यु नहीं है, अतएव मुझे रस निचोड़ने की जल्दी नहीं है। मुझे जगत् से किसी प्रकार के भय का कोई कारण नहीं है – अतः आनन्दपूर्वक निचोड़ता हूँ। मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है, मुझे स्त्री-पुत्रादि और विषय-सम्पत्ति का कोई बन्धन नहीं है, मैं सभी नर-नारियों से प्रेम रख सकता हूँ। सभी मेरे लिये ब्रह्मस्वरूप हैं। मनुष्य को भगवान समझकर उसके प्रति प्रेम रखने में कितना आनन्द है ! मैं निश्चिन्त होकर रसपान कर रहा हूँ। सन्तरे को इस प्रकार निचोड़कर देखिए – अन्य प्रकार से निचोड़ने पर आपको जो रस मिलेगा, उसकी अपेक्षा इस प्रकार निचोड़ने पर आप दस हजार गुना रस पायेंगे। एक बूँद भी बाकी न रहेगी।"

स्वामीजी ने और भी कहा था – "आप समझते हैं कि संसार में आकर खूब खा-पीकर और कुछ वैज्ञानिक तथ्य जान लेने से ही बस पर्याप्त हो गया; पर आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इसे छोड़कर मनुष्य का और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। मेरे लिये तो यह धारणा बिल्कुल तुच्छ है। ....मेरा संकल्प है कि मैं सभी वस्तुओं के मर्म की खोज करूँगा - जीवन का वास्तविक रहस्य क्या है, यह जानूँगा। ....मैं सभी वस्तुओं का 'क्यों' जानना चाहता हूँ - 'कैसे होता है', यह खोज बालक करते रहें।" इंगरसोल सम्भवतः यह उत्तर सुनकर मौन रह गये थे।

एक बार स्वामीजी ने भगिनी निवेदिता के नाम अपने एक पत्र में लिखा था – "इंगरसोल ने एक बार कहा था कि यदि वे भगवान होते तो रोगों को संक्रामक न बनाकर स्वास्थ्य को ही संक्रामक बनाते। किन्तु स्वास्थ्य भी रोगों की तुलना में समान भाव से संक्रामक है - यह बात एक बार भी उनके ध्यान में नहीं आयी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी भी वाग्मिता में इंगरसोल से कम न थे। एक पत्रिका ने तो उनके व्याख्यान का समाचार देते हुए लिखा था – "इन हिन्दू संन्यासी ने डिट्रायट नगर में इंगरसोल से भी अधिक श्रोताओं को आकर्षित किया था।" इंगरसोल जैसे विख्यात व नास्तिक व्यक्ति के साथ स्वामीजी का इतना आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि अमेरिका के बुद्धिजीवी वर्ग में वे अत्यन्त प्रभावी हो उठे थे। एक बार स्वामीजी ने कहा था कि एक मिथ्याचारी धार्मिक होने की अपेक्षा एक सच्चा नास्तिक होना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। इसीलिए इंगरसोल के सतही ज्ञान के बावजूद भी स्वामीजी उनकी सरलता, सच्चाई तथा स्पष्टवादिता के कारण उनके प्रति प्रेमभाव रखते थे।

राजमाता कुन्ती

मनोहर देव, एम.ए.
(१५६ लोकमान्य नगर, इन्दौर)

महाभारत में महर्षि वेदव्यास की विलक्षण प्रतिभा ने जहाँ भीष्म, कर्ण, अर्जुन, धृतराष्ट्र आदि को असाधारण व्यक्तित्वों के रूप में आरेखित किया है, वहीं उन्होंने कुन्ती तथा द्रौपदी नामक दो उज्ज्वल रत्नों को अपनी आदर्श स्त्रियों की मालिका में विशेष रूप से गूँथा है। इन दो नारियों को अपने व्यक्तिगत जीवन में सदैव दुःखभागिनी होना पड़ा था। राजर्षि युधिष्ठिर के अन्ध और दुस्साहसपूर्ण धर्माचरण की यज्ञवेदी पर इन महिमामयी नारियों को अपने सुखरूप हव्य की आहुति देकर जीवन की वास्तविकता का सामना करना पड़ा और इस प्रकार वे भावी समाज के लिए एक आदर्श उदाहरण छोड़ गईं।

कुन्ती का जन्म यादव वंश में हुआ। उसके पिता शूरसेन ने अपने कुन्तिभोज नामक फुफेरे भाई को वचन दिया था कि वे अपनी प्रथम सन्तान उन्हें दत्तक के रूप में प्रदान करेंगे। यादवों के सम्बन्ध से कुन्ती (यादवों की पृथा) वसुदेव की सहोदरा और भगवान श्रीकृष्ण की सगी बुआ थी। किन्तु कुन्तिभोज की दत्तक पुत्री होने के कारण इतिहास में पृथा का 'कुन्ती' नाम ही प्रचलित हुआ। उसका पुत्र धनंजय अपनी माता के पूर्व नाम पृथा से 'पार्थ' कहलाया।

कुन्ती का (दत्तक द्वारा) कुल परिवर्तन बाल्यावस्था में ही हो गया था। परन्तु इस घटना का उसके मन पर बड़ा गम्भीर परिणाम हुआ। एक जड़ पदार्थ की भाँति एक घर से दूसरे घर में मुझको व्यर्थ ही फेंक दिया गया – इस परावलम्बन का शूल उसके मन में सदैव चुभता था। भगवान श्रीकृष्ण से हस्तिनापुर में भेंट होने पर उसने अपनी इस अन्तर्वेदना को प्रगट किया था।

वह कहती है – "कृष्ण, मैं अपने दुर्भाग्य के लिये दुर्योधन को या अपने आपको दोषी नहीं मानती। मेरे बाल्यकाल में ही एक जड़ पदार्थ के समान मेरा विनिमय किया गया। उस समय मैं 'कंदु-हस्तिका' – हाथ में गेंद लेकर खेलने की आयु की थी। बाल्यावस्था में पिता की गोद से और प्रौढ़ावस्था में श्वसुर के स्नेह भाव से मैं वंचित हुई। तब से दुःख मेरा पीछा नहीं छोड़ रहा है।" (यहाँ श्वशुर शब्द धृतराष्ट्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। पति का ज्येष्ठ भ्राता श्वशुरतुल्य होता है, यह प्राचीन मर्यादा थी।)

कुन्ती के कौमार्य वय में घटित एक घटना उसके जीवन के विविध दुःखों और मानसिक क्लेशों की एक अविच्छिन्न गाथा है। कुन्तिभोज के यहाँ उसकी उपस्थिति में महर्षि दुर्वास का आगमन हुआ था। दुर्वास शीघ्र क्रोधित हो जाने वाले तथा शापानुग्रह समर्थ ऋषि थे। इसलिये उनके आगमन का समाचार सबके लिये भयसूचक होता था। "उनकी सेवा में थोड़ी भी त्रुटि की गई, तो उनका क्रोध सर्वनाश कर देगा"– इस आशंका से कोई उनकी स्वतःप्रवृत्त हो सेवा नहीं करना चाहता था। कुन्तिभोज ने कुन्ती को इस दुष्कर सेवा में नियुक्त किया। किन्तु परिणाम अच्छा निकला। कुन्ती के विनम्र एवं सरल सेवाभाव से प्रसन्न होकर दुर्वास ऋषि ने उसके लिए अपने वरदान का भण्डार खोल दिया। वह तो दुर्वास ही थे, जो प्रसन्न हों तो कुबेर का भण्डार लुटा देंगे, नहीं तो रुद्र के समान जलाकर भस्म कर देंगे। उन्होंने कुन्ती को अभिचार मंत्रों का प्रयोग सिखा दिया और बताया – "तुम इन मत्रों द्वारा जिस देवता का आवाहन करोगी, उस देवता की कृपा से तुम्हें एक एक पुत्र होगा।"

इस वर की उपयोगिता का तात्पर्य और भविष्य में इस वरदान के दूरगामी परिणाम समझने की अवस्था कुन्ती की नहीं थी। वह कुमारी थी और मातृत्व का वास्तविक अर्थ उसे अज्ञात

था । अपने इस वरदान का इस अबोध बालिका के जीवन पर क्या परिणाम होगा, यह समझने की चेष्टा दुर्वास ऋषि ने भी नहीं की थी । वे तो त्रिकालज्ञ थे । सम्भव है भावी का अनुमान करके ही दुर्वास मुनि ने यह वरदान सुनिश्चित किया हो ? वस्तुतः इस घटना के द्वारा कुन्ती के जीवन में एक अप्रतिहत चक्रवात की सृष्टि हुई ।

कुन्ती के बालसुलभ मन में जिज्ञासा हुई – क्या यह मंत्र प्रयोग सच्चा हो सकता है ? कहीं मुझे बालिका समझकर महर्षि ने मुझे बहला तो नहीं दिया है ? जिज्ञासावश परीक्षा के लिए एक दिन प्रातःकाल नदी के किनारे निर्जन स्थान में जाकर कुन्ती ने भगवान सूर्यदेव का आह्वान किया और महदाश्चर्य ! तेजोनिधि भगवान भास्कर मानवी रूप में उसके सम्मुख प्रकट हुए । कुन्ती एक क्षण के लिए उनके तेज से अभिभूत हो गई । उसकी वाणी रुद्ध हो गई । नेत्र वाष्पपूरित हो गए । उसकी भ्रान्त अवस्था देखकर नर देहधारी भास्कर मुस्कराये और बोले – "बालिके मेरा आह्वान किस हेतु किया ? बोल, मैं तेरा क्या प्रिय करूँ ?"

कुन्ती घबरा गई, लज्जित हुई और गिड़गिड़ा कर कहने लगी – "भगवन्, एक ब्राह्मण ने मुझे यह मंत्रप्रयोग सिखाया । मैंने अनजाने ही जिज्ञासावश उसका प्रयोग किया और आपका आवाहन किया । यह मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है । इसके लिए में आपको साष्टांग प्रणाम करती हूँ । आप मुझे क्षमा कर दीजिए । श्रेष्ठ पुरुष अज्ञानी बालिका के दोषों को करुणा की दृष्टि से देखते आये है, यही सनातन धर्म है ।"

सूर्यदेव – "कुन्ती, दुर्वास ऋषि की तपस्या और अमोघ सामर्थ्य किसी से छिपी हुई नहीं है । मैं भी उनके वचन को झुठला नहीं सकता । मुग्धे, अपने अंतःकरण में किसी भी भय की आशंका न कर । मैं बिना आमंत्रित किये कहीं जा नहीं सकता

और किसी कारणवश गया तो वरदान सफल किये बिना लौट नहीं सकता।"

कुन्ती ने कहा – "भगवन्, मैं तो कुँवारी कन्या हूँ। दूसरे के द्वारा गोद ली गई हूँ। मैं जन्मदाता माता-पिता से दूर हूँ। अगर यह बात प्रकट हो गई, तो मेरे सगे सम्बन्धी क्या कहेंगे ? इस कुँवारी अवस्था में मैं पुत्रवती हो जाऊँगी, तो लोग कलंकिनी समझकर मुझे बहिष्कृत करके छोड़ देंगे। यादव कुल और कुन्तिभोज दोनों के लिये मैं मृतसदृश हो जाऊँगी। मेरी दयनीय दशा को आप समझिए। प्रभो, मैं विवश और असहाय हूँ।"

सूर्यदेव बोले – "पृथे, अपने कौमार्य की चिन्ता न कर। मैं तुझे वर देता हूँ कि पुत्रप्राप्ति के उपरान्त भी तेरा कौमार्य अक्षुण्ण रहेगा। किन्तु ऋषी के मंत्र को विफल करने का साहस मुझमें भी नहीं है।"

कुन्ती के सम्मुख और कोई विकल्प न रहा। उसकी प्रार्थना का सूर्यदेवता पर कुछ भी असर नहीं हुआ। भगवान भास्कर की कृपा से उसने तत्काल एक दिव्य पुत्र को जन्म दिया, जिसके शरीर पर नैसर्गिक कवच और कानों में दिव्य कुण्डल थे। प्रतिसूर्य जैसे उस कान्तिमान बालक को देखकर कुन्ती हतप्रभ रह गई। यह प्रसंग अगर फैल जाय तो अपना क्या होगा, यह सोचकर वह भयभीत हुई। उस नवजात शिशु को एक हवादार पेटी में रखकर उसने गंगाजी में विसर्जित कर दिया। कर्ण के परित्याग का शल्य उसे जीवन भर सालता रहा। इस घटना के काफी काल बाद कुन्ती ने अपने दिव्य पुत्र को दूसरी बार कौरव राजकुमारों की शस्त्रपरीक्षा के अवसर पर देखा। उस समय कर्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए चुनौती दी थी। किन्तु 'सूतपुत्र' कहकर उसकी हँसी उड़ाई गई। इस उपहास के कारण ही दुर्योधन ने मित्र कहकर कर्ण को संरक्षण दिया और तब से

राजकुमार - पाण्डव और कौरव – इन दो प्रतिस्पर्धी खेमों में बँट गये। कर्ण का वास्तविक परिचय केवल कुन्ती ही जानती थी। वर्षों बाद अपने परित्यक्त बालक को सहसा देखकर वह रंगमण्डप में ही मूर्छित हो गई। दासियों ने चंदनजल छिड़ककर उसकी चेतना लौटाई। किन्तु अपनी ही कोख से उत्पन्न दो पुत्रों को स्पर्धा हेतु उद्यत देखकर उसे एक अप्रत्याशित मानसिक आघात लगा। कर्ण को उसका वास्तिवक परिचय बताने का वह अवसर न था। उस समय मन ही मन दुःख के घूँट निगलते हुए, मौन बैठे रहना ही उचित था।

महाभारत के उद्योगपर्व में 'कृष्ण-शिष्टाई' का प्रसंग आता है। उस समय कुन्ती और भगवान कृष्ण की विदुर के घर भेंट हुई थी। श्रीकृष्ण के कथनानुसार कुन्ती कर्ण से एकान्त में मिली और उसे अपने वास्तविक सम्बन्ध से अवगत कराते हुए कहा – "कर्ण, तू सूतपुत्र नहीं, सूर्यपुत्र है, देवपुत्र है। युधिष्ठिर की सारी राज्यसम्पदा भोगने का अधिकार केवल तुझे है। तू कौन्तेय है, कर्ण, तू कौन्तेय है।" इस घटना का सत्यापन आकाशवाणी द्वारा भी हुआ, किन्तु कर्ण सामान्य साँचे में ढला मानव नहीं था, परिस्थिति के दबाव में आकर झुक जानेवाला मोम का पुतला नहीं था। उसकी दृष्टि में कृतघ्नता से प्राप्त अतुल ऐश्वर्य की तुलना में कृतज्ञता ज्ञापनार्थ मृत्यु का वरण करना कहीं श्रेयष्कर था। कर्ण के दृढ़ निश्चय को डिगाने में कुन्ती को असफलता ही हाथ लगी।

कुन्ती का विवाह प्रचलित 'स्वयंवर' पद्धति के अनुसार पराक्रमी महाराजा पाण्डु के साथ हुआ। पाण्डु ने मद्रदेश की राजकन्या माद्री से दूसरा विवाह भी किया, किन्तु कुन्ती के मन में माद्री के प्रति लेश मात्र भी डाह का भाव न था। पाण्डु के साथ बिताये कुछ वर्षों के दौरान ही कुन्ती के जीवन में सौभाग्य

के कुछ सुखद क्षण आये थे। पाण्डु को दो व्यसन प्रिय थे। वनविहार और आखेट। राजकाज सँभालने वाले उनके अनेक ज्येष्ठ सम्बन्धी उस समय जीवित थे, यथा – धृतराष्ट्र, गंगापुत्र भीष्म तथा महामनीषी विदुर। ज्येष्ठ भ्राता के कन्धों पर राज्यभार सौंपकर पाण्डु अपनी दो स्त्रियों के साथ हिमालय की गोद में यथेच्छा वनविहार करने चले गये। उनके अन्तःकरण में राज्य का तनिक भी मोह न था। उनकी दोनों पत्नियाँ उनके साथ छाया के भाँति रहती थीं।

वनविहार के दौरान एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना हुई। मृगया के आवेश में पाण्डु के शरसंचालन से एक मृग का वध हुआ। वह मृग कोई मृग नहीं था, अपितु किंदम नामक तापस मृगरूप में अपनी प्रियतमा मृगी के साथ रमण कर रहे थे। अनजाने में पाण्डु के हाथों उन ऋषि की हत्या हो गई। मरते समय ऋषि ने पाण्डु को शाप दिया – "जब कभी तुम विहार के उद्देश्य से अपनी पत्नी के पास जाओगे, तभी तुम्हारी मृत्यु होगी।" यह सुनकर पाण्डु बड़े लज्जित और दुखी हुए। इसके बाद लज्जावश पाण्डु अपनी राजधानी में लौटे ही नहीं। उन्होंने वन में ही ऋषि-मुनियों के समान तपस्या करने का व्रत लिया।

ऋषियों से यह जानकर कि सन्तानहीन व्यक्ति को मरने पर सद्गति नहीं प्राप्त होती, पाण्डु बड़े दुखी हुए। उसी समय उपयुक्त अवसर समझकर कुन्ती ने अपने वरप्राप्ति का इतिहास उन्हें बताया। पाण्डु से अनुमति लेकर अपनी मंत्रविद्या द्वारा कुन्ती ने धर्मराज, वायुदेव एवं देवेन्द्र से क्रमशः युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन को सन्तान रूप में प्राप्त किया। अपनी सौत माद्री को भी सूनी कोख की यातना से मुक्ति दिलाने हेतु इस उदारमनस्क नारी ने अश्विनी कुमारों द्वारा नकुल और सहदेव

नामक जुड़वे पुत्र प्राप्त करा दिए। इस घटना से कुन्ती की बुद्धिमत्ता, उदारता और निर्मत्सरता का परिचय मिलता है।

दुर्भाग्यवश पाण्डु अपने मन को पूरी तौर से वश में न रख सके और एक बार आवेश में माद्री का स्पर्श करते ही उनके प्राणपखेरू उड़ गये। इस मृत्यु का दोष अपने सिर पर लेते हुए माद्री ने आर्य नारियों की परम्परा के अनुसार सती हो जाने की इच्छा व्यक्त की। कुन्ती भी सहगमन के लिए तैयार थी, किन्तु माद्री ने उसे पराङ्मुख किया। पाँच किशोर पुत्रों का लालन-पालन करने में माद्री स्वयं को असमर्थ समझती थी। माद्री ने कुन्ती पर ही यह भार सौंपा। कुन्ती के रागद्वेषरहित स्वभाव से माद्री पूर्णतया परिचित थी, इसलिए कुन्ती को यह दायित्व स्वीकार करना पड़ा। कुन्ती के औदार्य और निर्मत्सरता का यह ठोस उदाहरण है।

पाण्डव हस्तिनापुर लौट आए। धृतराष्ट्र और विदुर की छत्रछाया तले वे बड़े होने लगे। यह काल कुन्ती ने बड़े ही संयम के साथ बिताया। वारणावत के लाक्षागृह प्रकरण में पाण्डुपुत्र विदुर की सूझबूझ से अपने प्राणों की रक्षा कर, पाण्डव एकचक्रा नगरी में निवास करने लगे। तब तक कुन्ती ने सावधानी और संयम से काम लिया। कुन्ती के स्वभाव में एक सुप्त निर्भयता का भाव था, वह भी एकचक्रा निवास के दौरान व्यक्त हुआ। वहाँ एक निर्धन ब्राह्मण के घर कुन्ती ने अपने पुत्रों सहित आश्रय लिया था। उस नगर का बक नामक एक नरभक्षक राक्षस प्रतिदिन एक कुटुम्ब के एक व्यक्ति को अपना ग्रास बनाता था। राक्षस और ग्रामवासियों के बीच ऐसा समझौता हुआ था। एक दिन जब इस निर्धन ब्राह्मण की भी बारी आ पहुँची, तब कुटुम्ब के सभी सदस्य माता-पिता, पुत्र-पुत्रियाँ सभी अपने प्राण देकर अन्यों की रक्षा करने का हठ करने लगे। उनके बीच राक्षस के

पास मैं जाऊँगा; नहीं, मैं जाऊँगा, ऐसी बहस चल रही थी। इस हृदय विदारक दृश्य को देखकर कुन्ती करुणाभिभूत हो उठी। उसने बीच में जाकर इस विवाद को रोकते हुए कहा – "हे ब्राह्मण, तुम दुःखी मत होओ। मेरा मँझला पुत्र बड़ा शक्तिशाली है। इसने बड़े-बड़े राक्षसों को परास्त किया है। इस संकट की घड़ी में भी यदि काम न आये तो फिर ऐसे पुत्र का क्या उपयोग ? तुम शोक न करो। मैं भीम को बलि के रूप में उस राक्षस के पास भेज देती हूँ।"

इस प्रस्ताव का उस हतभागे परिवार ने विरोध किया, लेकिन कुन्ती ने उनकी एक न सुनी। इस प्रसंग में कुन्ती का विलक्षण आत्मत्याग और मानवतापूर्ण दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। स्वयं युधिष्ठिर को अपनी माता का यह 'अव्यापारेषु व्यापार' अनुचित लगा। पर कुन्ती ने उन्हें समझाते हुए कहा – "युधिष्ठिर, यह कार्य मैंने बुद्धि की दुर्बलतावश नहीं किया है। भीम के विषय में तुम व्यर्थ चिन्ता न करो।" आगे चलकर भीम के द्वारा उस राक्षस का वध हुआ और वह नगरी उसकी त्रासदी से मुक्त हुई।

कौरवों की भरी सभा में वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध राजपुरुषों के सामने पाण्डवों की सहधर्मिणी द्रौपदी का चीरहरण और उस पतिव्रता की घोर दुर्दशा, कुन्ती के जीवन का सर्वाधिक दुखमय प्रसंग था। अपने प्राणप्रिय पुत्रवधू की घोर विडम्बना देखकर राजमाता कुन्ती के जीवन का सन्तुलन बिगड़ना स्वाभाविक था। द्रौपदी के करुण क्रंदन से द्रवित होकर भगवान वासुदेव ने चीर बढ़ाकर उसकी लज्जा बचाई। श्रीकृष्ण का यह उपकार भी कुन्ती के कोमल अन्तःकरण को सदैव अभिभूत करता रहा। इस प्रसंग से वह पूर्णतया ध्वस्त, उद्दीपित और विदीर्ण हो गई। वह अब पुरानी सर्वसहा और संयत कुन्ती नहीं रही। तेजस्वी क्षत्राणी के

समान वह समरप्रिया और अंगारे बरसानेवाले ज्वलन्त ज्वालामुखी के समान दाहक बन गई । तेजस्वी अग्निकणों से धधकते हुए असंख्य स्फुलिंग मानो उसके रोम-रोम से निःस्रित होने लगे । पाण्डवों के वनगमन के समय जब द्रौपदी अपनी सास के चरणस्पर्श करने आई, उस समय कुन्ती के उद्‌गार में करुण रस का भावस्पर्शी उद्रेक हो उठा । इस घोर विपदा में भी कुन्ती ने द्रौपदी को केवल संदेश ही नहीं अपितु एक दायित्व भी सौंपते हुए कहा – "माद्री का सबसे छोटा पुत्र सहदेव मेरा बहिश्चर प्राण है । उसका विशेष ख्याल रखना ।"

कुन्ती के स्वभाव में अन्तःकरण की निर्मलता के ऐसे उद्‌गार जगह-जगह पर मिलते हैं । किसी भी आर्य नारी के सम्पूर्ण जीवन में इतनी शुचिता और अस्मिता एक साथ मिलना कठिन है । कुन्ती पाण्डवों के साथ वन में नहीं गई । पाण्डवों के वनवास के पूरे समय तक उसका निवास देवर विदुर के घर रहा।

वह विमनस्क थी, लेकिन अचेत नहीं थी । इस दुर्धर विमनस्कता में भी अपने सद्‌गुणसम्पन्न धर्मवर्ती और दुर्धर्ष पुत्रों के ऊपर छाई हुई विपदाओं का स्मरण कर कभी-कभी वह व्याकुल हो उठती, किन्तु उसके मन में सुप्त रूप से वीरप्रसवा क्षत्राणी की विजिगीषा पूर्ण रूप से विद्यमान रहती थी । भगवान श्रीकृष्ण जब अपनी बुआ का दर्शन करने विदुर के घर पधारे तो उनको देखकर कुन्ती के उद्‌गार ज्वलन्त अग्निशिखा के सदृश अमूर्त क्रोधज्वाला के रूप में प्रस्फुटित हुए । कुन्ती ने कहा था – "केशव, मेरे पुत्रों जैसे पराक्रमी वीर खुली आँखों से चीरहरण का घृणित दृश्य देखते रहे ! ऐसे पुत्रों के प्रति क्या मेरे मन में वात्सल्य रहेगा ? यह दृश्य देखनेवाले निष्क्रिय कुरुवृद्ध भी अब मेरे सम्मान के योग्य नहीं रहे ।"

भगवान वासुदेव ने कुन्ती को सान्त्वना दी। शान्तिदूत बनकर आये हुए कृष्ण युद्ध का निर्णय लेकर वापस लौट रहे हैं; यह सुनकर कुन्ती आनन्दविभोर हो उठी। "अपने पुत्रों के लिए तुम्हारा क्या संदेश है ?" ऐसा कृष्ण ने जब पूछा, तो कुन्ती ने अपने पुत्रों के लिये वीर क्षत्राणी विदुला का आख्यान कह भेजा। डॉ॰ विंटरनीत्ज नामक पाश्चात्य पंडित के मतानुसार यह उपाख्यान इतना पौरुषपूर्ण है कि इसके चिन्तन से गतप्राण कलेवर में भी चेतना का संचार होने लगता है।

कुन्ती के सन्देश का कुछ अंश इस प्रकार है – "एक क्षण के लिए भी क्यों न हो, बिजली के समान दाहक तेजपुंज बनकर लुप्त हो जाना अच्छा है। शुष्क काष्ठ के समान धधककर जलना अच्छा, किन्तु भूसे के समान धुँआ छोड़ते हुए भस्मीभूत होना – यह क्या क्षत्रियों का जीना है ?

"कृष्ण, युधिष्ठिर को बताना कि भिक्षु के समान उदरपूर्ति कर लांछित जीवन जीकर बचे रहने की अपेक्षा तेजस्वी क्षत्रिय के समान युद्ध में पराक्रम करते हुए स्वर्ग प्राप्ति करना अधिक प्रशंसनीय है। अर्जुन और भीम को मेरा सन्देश देना कि जिस काल की वीर क्षत्रिय प्रतीक्षा करते रहते हैं वह पौरुष दिखाने का समय आ गया है। क्षत्राणी वीर पुत्र की प्राप्ति के लिए ही गर्भधारण करती है। मैं सच्ची क्षत्राणी हूँ इसका प्रमाण देने का समय आ गया है।"

कुन्ती का यह असामान्य आवेश और समरोत्सुक क्षत्राणी की ज्वलंत भावना देखकर भगवान हतप्रभ रह गये। इसके बाद फिर कभी उसके मुख से सन्धि शब्द का उच्चारण नहीं हुआ।

किन्तु कुन्ती की आर्यत्व दर्शक विशिष्टता युद्धोपरान्त ही प्रगट हुई। युद्ध जीतकर जब उसके पुत्र भारत के सम्राट और शासक बने, तब 'राजमाता' के ऐश्वर्य तथा सम्मान से युक्त

जीवनयापन करके, अपने अहंकार का पोषण करना उसके लिये सहज था। परन्तु आत्मतुष्टि का भाव उसके मन में कदापि न था। अपने ज्येष्ठ धृतराष्ट्र और ज्येष्ठा गान्धारी वंशक्षय की महान आग में झुलस रहे है, यह जानकर उनके समीप रहकर उनकी सेवा और सुश्रूषा करना अपना परम धर्म समझकर, कुन्ती उन्हीं के साथ रहने लगी। युधिष्ठिर सहित सभी पुत्रों और द्रौपदी के बारम्बार मनाने पर भी वह विचलित नहीं हुई। युधिष्ठिर कहते हैं – "माते, अगर तुम्हें यही करना था, तो युद्ध की प्रेरणा देकर हमसे घोर वंशक्षय क्यों करवाया ? अब तो राज्य प्राप्त हुआ है। तो उसका उपभोग करने में तुम अपनी असमर्थता क्यों जता रही हो ?"

कुन्ती का उत्तर था – "अपने पराक्रमी पति द्वारा अर्जित साम्राज्य का मैंने यथेष्ट उपभोग किया है। पुत्रों के पराक्रम से सम्पादित राज्यश्री का उपभोग करने की कामना, न कभी मेरे मन में थी और न आज है। वीरमाता और क्षत्राणी के नाते तुम्हारे क्षात्रतेज को उद्दीप्त करना मेरे कर्त्तव्य था, वह मैंने पूरा किया।"

द्रौपदी, अर्जुन, और सहदेव रोते-बिलखते कुन्ती को बारम्बार मना रहे थे। युधिष्ठिर को बुलाकर कुन्ती ने धैर्यपूर्वक कहा – "सुनो युधिष्ठिर, तुम्हारा सबसे छोटा अनुज सहदेव मेरा अतीव प्रिय है, उसे सँभालना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है। और तुम्हारा एक ज्येष्ठ भ्राता . . .।" "ज्येष्ठ भ्राता . . . ? कैसी बात कर रही हो माता ?" – युधिष्ठिर ने अवाक् होकर पूछा।

"हाँ धर्मराज, महावीर कर्ण तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता था – मेरी कोंख से उत्पन्न हुआ था। परमवीर कर्ण . . .।" कुन्ती की आँखों में आँसू भर आये।

"पुत्र, कर्ण ने संग्राम में कभी पीठ नहीं दिखाई। जगत में उसके समान दानी और कोई नहीं हुआ। दान उसकी

जीवननिष्ठा थी । उसके निमित्त तुम दान करो, विपुल दान करो ।" कहते कहते कुन्ती विकल होकर मूर्छित हो गई ।

कर्ण और पाण्डवों का वास्तविक नाता कुन्ती ने अब तक गोपनीय रखा था । उसके प्रकट होते ही युधिष्ठिर कहने लगे – "माते, कर्ण मेरा ही ज्येष्ठ सहोदर था – यह तुम आज बता रही हो ! अगर पहले मुझे इसका पता होता, तो यह अनर्थकारी वंशक्षय और महाभयकर युद्ध कभी न होता । मैं अपना सम्पूर्ण जीवन और राज्यश्री उसके चरणों में समर्पित कर देता । कहो माते, इतना बड़ा रहस्य तुमने अपने हृदय में अब तक क्यों छिपाकर रखा था ?"

कुन्ती बोली – "पहले ही क्षात्रतेज खो बैठे तुम लोगों को इस बात का पता लगता, तो अनर्थ हो जाता । तुम्हारा पराक्रम लुप्त हो जाता । तुम काष्ठवत् जड़ हो जाते और यह क्षत्रियोचित नहीं होता ।"

ऐसा है इस क्षत्राणी का जीवनेतिहास ! भगवान श्रीकृष्ण से कुन्ती ने एक ही वरदान माँगा था – "विपदः सन्तु मे शश्वत् – मैं सदा विपत्तियों से घिरी रहूँ ।"

कृष्ण – "बुआजी, क्या माँग रही हैं, आप ?"

कुन्ती – "जनार्दन, जब कभी हमारे ऊपर विपदाएँ आई, तो तुम्हीं सहायता करने दौड़ते हुए आए । यह बात क्या मैं भूल सकती हूँ ?"

इस प्रकार इस उदारमनस्क तेजस्वी नारी की व्यक्तिरेखा महामति व्यास की प्रतिभा से सुचित्रित हुई है ।

मत्स्यावतार

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें से कुछ पौराणिक हैं और कुछ ऐतिहासिक। इन कथाओं के अनुशीलन से हमें आनन्द तथा उपयोगी शिक्षाओं की प्राप्ति होती है, और साथ ही इनमें हिन्दू समाज के उत्थान-पतन विषयक इतिहास के स्पष्ट सूत्र भी हमें प्राप्त होते हैं। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें 'दशावतार-चरित' नाम से एक पुस्तिका के रूप में लिखा था, जिसका अनुवाद हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित करने जा रहे हैं। - स.)

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्।
केशव धृतमीनशरीर -
जय जगदीश हरे॥

- १ -

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करने के बाद अन्त में मनुष्यों के आदिपुरुष मनु को बनाया। मनु की सन्तान होने के कारण ही हमें मानव कहते हैं। मानव ही विश्व का श्रेष्ठतम जीव है।

मनु ने सन्तान की प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या की। तपस्या के फलस्वरूप उनकी अत्यन्त तेजस्वी अनेक सन्तानें हुईं। उन लोगों ने विभिन्न विद्याओं का आविष्कार किया और तपस्या के द्वारा महाशक्ति की उपलब्धि की। इसके फलस्वरूप वे जीव-जगत् के स्वामी होकर प्रकृति-राज्य के सभी प्रकार के सुख-सुविधाओं का भोग करने लगे। अब मनु के आनन्द की सीमा न रही।

निश्चिन्त होकर मनु तपस्या में डूब गये। ध्यानयोग के द्वारा भूत-भविष्य-वर्तमान की थोड़ी झलक मिलने पर उन्हें पता चला

कि थोड़े दिन बाद ही सारी पृथ्वी पूर्ण रूप से जलमग्न हो जाएगी और इस प्रकार समस्त जीवों का विनाश हो जाएगा। अपनी इतनी तपस्या का फल समूल ध्वंश हो जाएगा, यह सोचकर मनु बड़े ही दुखी हुए। यह विचार उनके लिए असह्य हो उठा। तपस्या के द्वारा ही जगत् की सृष्टि हुई है और तपस्या के द्वारा ही इसकी रक्षा करनी होगी – यह सोचकर वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के ध्यान में निमग्न हो गये। पहाड़ की एक गुफा में शिला के आसन पर बैठकर ध्यान करते हुए उनकी बाह्यचेतना पूरी तौर से लुप्त हो गयी। शरीर काठ की मूर्ति के समान अचल हो गया। मन ब्रह्मामय हो उठा। इस उग्र तपस्या पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें दर्शन दिया।

ब्रह्मा ने कहा, "वत्स, तुम्हारे पुत्र-पौत्रों से पृथ्वी परिपूर्ण है। वे लोग सर्व प्रकार के भोग्य वस्तु पाकर आनन्दपूर्वक हैं। तो फिर क्यों तुम ऐसी कठोर तपस्या करके देहपात कर रहे हो ?" इस पर मनु ने जब अपने मन का भाव व्यक्त किया, तो ब्रह्मा बोले, "वत्स, तुम इस विषय में निश्चिन्त रहो। जिनकी इच्छा से मैंने जगत् की सृष्टि की है, जिनकी इच्छा से तुम मनुष्यों के आदिपुरुष हो, उन्हीं प्रेममय नारायण ने अपने जीवों की रक्षा के लिए सुव्यवस्था की है।" यह कहकर उन्होंने मनु के मनश्चक्षुओं के समक्ष भविष्य की उस घटना का दृश्य प्रकट किया। मनु ने प्रफुल्ल होकर ब्रह्मा के चरणों में प्रणाम किया और ब्रह्मा अन्तर्धान हो गये।

- २ -

अनेक परिवर्तनों के बीच से होकर जगत् चलता रहा। पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण थी; रूप, यौवन, स्वास्थ्य के साथ ही वार्धक्य, रोग तथा मृत्यु भी विद्यमान थे; तुच्छ बातों को लेकर झगड़ा-फसाद, क्षुद्र स्वार्थ के लिए रक्तपात; फिर स्नेह-प्रीति, दूसरों

के लिए आत्मत्याग तथा सुख-दुख, भले-बुरे के चक्र के द्वारा मानव जीवन में अनेक विविध प्रकार के भाव प्रस्फुटित होते रहे। प्रकृति के विधान से मानव काल के स्रोत में प्रवाहित होता रहा।

भोग के द्वारा मनुष्य का मन क्रमशः उन्मत्त हो उठा। शरीर के सुख-स्वाच्छन्द्य को छोड़कर अन्तर की शान्ति को ढूँढने की उसके मन में इच्छा न हुई। निन्दा तथा विद्वेष क्रमशः कलह एवं हिंसा में परिणत हुआ; तदुपरान्त हत्या, रक्तपात और अत्याचार का दौर चला। छल-कपट ने मानव-हृदय पर शासन करना आरम्भ किया। साधुओं के उत्पीड़न तथा दुर्बलों के कातर क्रन्दन से श्री हरि का आसन डोल उठा।

सुषमामयी प्रकृति के हास्यपूर्ण मुखमण्डल पर प्रचण्ड क्रोध की अभिव्यक्ति दीख पड़ी। शरत्कालीन निर्मल गगन में बिजली की कड़क सुनाई देने लगी, वसन्त के मलय पवन के दौरान आँधी चलना आदि घोर ऋतु विपर्यय आरम्भ हुए। अकाल, महामारी, निर्दयतापूर्वक जीवों का ग्रास करने लगे। आत्मरक्षा का कोई भी उपाय नहीं बचा। मनुष्य के दिन अत्यन्त उद्विग्नतापूर्वक बीतने लगे।

- ३ -

उन्हीं दिनों पृथ्वी पर द्रविड़ नाम का एक राज्य था। परम धर्मपरायण सत्यव्रत वहाँ के राजा थे। प्रजा का कल्याण करने की बात ही सर्वदा उनके मन बनी रहती थी। याग-यज्ञ तथा ध्यान-जप में ही उनके दिन बीतते थे। मनुष्य की दुर्दशा से व्यथित होकर वे जगत् के कल्याणार्थ दिन पर दिन भगवान से प्रार्थना करते रहते थे।

एक दिन सत्यव्रत तालाब के जल से पितरों का तर्पण कर रहे थे। सहसा एक छोटी सी मछली क्रीड़ा करते हुए उनकी अंजली में आ पड़ी। मछली को वे वापस तालाब में डालने को

उद्यत हुए, तभी उसने मानवी भाषा तथा क्षीण स्वर में, "रक्षा करो, रक्षा करो" – कहकर चीत्कार करना आरम्भ किया। राजा ने विस्मित होकर मछली को ऊपर उठाकर देखा। मछली पुनः बोली, "मैं बड़ी-बड़ी मछलियों से अत्यन्त भयभीत हूँ। तुम मेरी रक्षा करो।" राजा तो यह सुनकर बिल्कुल ही अवाक् रह गये। मछली को कमण्डलु में रखकर उन्होंने अपना तर्पण समाप्त किया। बाद में कमण्डलु को अपने भवन में लाकर उन्होंने एक किनारे रख दिया। राजा ने सोचा कि भगवान की इच्छा से घटित इस घटना में असम्भव जैसा कुछ नहीं है। सम्भव है इसमें उनका कोई गूढ़ अभिप्राय हो। भक्तगण इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में भगवान के मुखापेक्षी रहते हैं।

अगले दिन प्रातःकाल राजा मछली की हालत देखने के लिये कमण्डलु के पास गये। उन्होंने पाया कि मछली कमण्डलु में भर गयी है और उन्हें देखकर कह रही है, "राजा, देखो, मैं कितनी बड़ी हो गयी हूँ! तुम्हारे इस छोटे से कमण्डलु में अँट नहीं पा रही हूँ। तुम शीघ्र मुझे और भी बड़े स्थान में रखो।" राजा ने उसको एक हौज के जल में रख दिया।

अगले दिन राजा ने देखा – वह मछली अद्‌भुत रूप से इतनी बड़ी हो गयी थी कि हौज में उसके हिलने-डुलने तक को स्थान न था। इस असाधारण घटना को देखकर राजा भगवान की महिमा के विषय में सोचने लगे। सामान्य लोगों के समान वे उद्विग्न नहीं हुए। मछली मोटी आवाज में राजा से और भी बड़े जलाशय में ले जाने का अनुरोध करने लगी। राजा अपने उद्यान के विशाल सरोवर में मछली को डालकर सोचने लगे कि अब तो उसे कोई दुख नहीं रहेगा।

परन्तु बड़े आश्चर्य के साथ अगले दिन ही राजा ने देखा कि मछली सम्पूर्ण तालाब में फैल गयी है। कहावत है,

"गण्डूषजलमात्रेण सफरी फरफरायते ।"★ परन्तु यह सफरी तो इस वृहत् सरोवर में फरफराने की तो बात ही क्या, हिलने-डुलने तक में अक्षम है । यह घटना किसी के लिए अज्ञात न रही । मछली की कण्ठध्वनि भी अत्यन्त मोटी हो गयी थी । अपनी उसी मोटी आवाज में वह राजा के साथ बातें करने लगी ।

राजा ने सेनापति को आदेश दिया, "मछली को बिना कष्ट पहुँचाए नदी में डलवा दो ।" सेनापति ने बहुत सी रस्सियों को मछली के शरीर में लपेटा तथा हजारों लोगों एवं अनेक हाथियों की सहायता से उसे सौ बैलगाड़ियों पर चढ़ाया और बड़ा कष्ट उठाकर उसे नदी तक ले गये । यह घटना लोगों के मुख से हजारों प्रकार से अतिरंजित होकर सम्पूर्ण भारत में फैल गयी । उन दिनों रोग, शोक, अकाल, भूकम्प, उल्कापात, वज्राघात आदि के फलस्वरूप पृथ्वी की अवस्था भयंकर थी; इस घटना से वह और भी भयावह हो उठी । जो मुट्ठी भर लोग उन आपदाओं से बच रहे थे, इस घटना को सुनकर वे भी भय से मरणासन्न हो गये । परन्तु राजा सत्यव्रत भगवान के चिन्तन में विभोर रहे ।

मछली का शरीर नदी के अन्दर भी अत्यन्त तीव्र वेग से बढ़ता रहा और उसके कारण जल का प्रवाह अवरुद्ध हो गया । तटवर्ती ग्राम बह गये । द्रविड़ राज्य में हाहाकार मच गया । मृत्यु से बचे हुए, भय से अर्धमृत लोगों की सहायता से मछली को खींचकर समुद्र में लाया गया । समुद्र में पहुँच कर मछली ने यथेच्छा अपने अंगों का विस्तार किया और एक महाद्वीप का आकार धारण कर लिया ।

राजा मछली की भगवद्बोध से स्तव-स्तुति करने लगे । राजा ने कहा, "हे हरि, तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो ऐसी अद्‌भुत लीला कर सके ? पाप में डूबी मनुष्य जाति तुम्हें भूलकर

★ सफरी नामक मछली चुल्लू भर पानी में ही उछल-कूद मचाया करती है ।

अहंकार में उन्मत्त हो उठी थी; उन्हें अब यथेष्ट दण्ड मिल चुका, अब तुम प्रसन्न होओ। जो मनुष्य धरा को तुच्छ मानते थे, आज वे मछली के भय से डरे हुए हैं। तुमने एक सामान्य मछली का रूप धारणकर दाम्भिक मनुष्यों का दर्प पूर्णरूपेण चूर्ण कर दिया है। अब तुम प्रसन्न होओ।"

उसी समय चारों दिशाएँ आलोकित हो उठीं। मत्स्य का पूर्वार्ध नारायण के रूप में परिणत हुआ। कमल की पंखुड़ियों के समान दोनों नेत्र; चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा व पद्म और प्रसन्न हास्यमय मुखमण्डल, जिसे देखते ही जगत् विस्मृत हो जाता था! उस प्रेममय रूप को देखकर राजा का शरीर रोमांचित हो उठा, कम्पन के साथ पसीना निकलने लगा, अश्रु से कपोल भीग गये और उनके अन्तर से रुदन निःसृत होने लगा। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया; आनन्द की तरंगों के घात-प्रतिघात से उनका अंग-प्रत्यंग टूटने लगा। नारायण ने राजा के सिर, मुख तथा सीने पर हाथ फेरते हुए उन्हें शान्त करते हुए कहा "बेटा सत्यव्रत, एक बार अपने पूर्वजन्म की बातों का स्मरण करो। तुम मनुष्यों के आदिपुरुष मनु हो। तुमने प्रलय-प्लावन के समय मनुष्य-जाति की रक्षा के लिए कठोर तपस्या की थी। ब्रह्मा के वर से तुम्हारे द्वारा मनुष्यसह समग्र जीव-जन्तुओं की रक्षा होगी।" राजा के मन में एक एक कर पूर्वजन्म की सारी स्मृतियाँ जाग्रत होने लगीं।

श्री हरि ने कहा, "अब से सात दिन बाद प्रलय आरम्भ होगा। तुम मानव आदि प्राणियों का एक एक जोड़ा तथा समस्त वनस्पतियों के बीज यथाशीघ्र संग्रह कर लो। सात दिन बाद देवताओं द्वारा निर्मित एक नौका तुम्हारे घाट पर आ पहुँचेगी। तुम जीवों तथा वनस्पति-बीजों के साथ उसमें सवार हो जाना। जब प्रलय-वायु से समुद्र तरंगायित होकर पृथिवी का ग्रास करेगा,

तब मैं सिंगधारी स्वर्ण-मत्स्य के रूप में पुनः आविर्भूत होऊँगा। तुम अपनी स्वर्ण-नौका को मेरे सिंग से बाँध लेना।" फिर 'माभैः माभैः' कहने के साथ ही साथ स्वप्न के समान नारायण-मत्स्य अन्तर्धान हो गये।

सात दिन बाद सचमुच ही एक स्वर्णनौका आ पहुँची। राजा श्री हरि की आज्ञा के अनुसार सभी प्राणियों के जोड़े तथा वनस्पतियों के बीज सहित उसमें सवार हुए और नौका अपने आप ही समुद्र के बीच जा पहुँची।

इसके बाद पृथ्वी पर भयानक घटनाएँ होने लगीं। सूर्य का तेज बारहगुना बढ़ गया। तालाब, सरोवर, नदी आदि सब सूख गये। पेड़-पौधे तथा लताएँ आदि कुछ भी नहीं बचे। पहले पक्षीगण और तदुपरान्त अन्य जीव-जन्तु मरकर समाप्त हो गये। मनुष्य ने विविध उपायों का सहारा लेकर बचे रहने का प्रयास किया, परन्तु सब कुछ व्यर्थ सिद्ध हुआ। जो कुछ अभागे लोग कंकालप्राय होकर बच गये, वे भी भूख-प्यास से पागल होकर सियाल-गृद्धों के समान घृणित रूप से सड़े मुर्दों के लिए छीना-झपटी करने लगे। तथापि जो लोग नहीं मरे, वे नंगे उन्मत्त पिशाच से भी अधिक जघन्यतापूर्वक, पशुओं से भी बढ़कर हिंस्र हो उठे। रक्त पीकर प्यास बुझाने को वे एक दूसरे की हिंसा करने लगे। कई लोग मिलकर किसी एक को मारकर उसके रक्त-मांस का भक्षण करते। इस प्रकार क्रमशः मानव-जाति का विनाश हो गया। नगर, ग्राम तथा अट्टालिकाएँ शून्य पड़ी रहीं; जगत् नीरव तथा निस्तब्ध हो गया। बारह सूर्यों का प्रखर तेज धू-धू कर जल रहा था और वायु हू-हू की आवाज के साथ बहते हुए मानो शोक व्यक्त कर रही थी।

पृथ्वी पर जीवन का चिह्न तक नहीं बचा। असंख्य जीव-जन्तुओं की सूखी हुई लाशों तथा सूखी हुई वृक्ष-लताओं से

धरती पटी हुई थी। एक दिन दावाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठा और प्रचण्ड धूप तया प्रबल वायु की सहायता से वह क्रमशः सारी धरती पर फैल गया, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी एक अग्निगोलक के रूप में परिणत हो गयी। क्या ही भीषण दृश्य था !

जलते जलते इंधन के साय ही साय अग्नि भी शान्त हुई; सम्पूर्ण धरातल राख से आच्छादित था। प्रबल वायु भीषण गर्जन के साय निर्बाध गति से पृथ्वी पर प्रवाहित होने लगी। राख और धूल के उड़कर वायुमण्डल में छा जाने से सूर्य की किरणों का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

रविरश्मियों के प्रचण्ड ताप से नद, नदियों तथा सरोवरों का जल भाप होकर आकाश में एकत्र हो चुका था; अब वह मेघ में परिणत होकर पृथ्वी पर चारों ओर फैल गया। दिन और रात का भेद मिट गया। असंख्य स्तरों में बिखरी मेघराशि के भीषण गर्जन से सभी पर्वत प्रतिध्वनित हो उठे। भूकम्प से धरातल के बारम्बार कम्पित होने के फलस्वरूप पहाड़ खण्डित होकर गिरने लगे, नदियों के गर्भ से पर्वत उठने लगे और समुद्र मरुभूमि में परिणत हुए।

तदुपरान्त मूसलाधार वर्षा होने लगी। वर्षा तथा शिलापात के फलस्वरूप ऊँची-नीची भूमि समतल क्षेत्रों में परिणत हुई; बड़े बड़े पर्वत टूटकर जलप्रवाह में बहने लगे, सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो गयी, पहाड़ तथा समतल समुद्र सब एकाकार हो गये। उन्मत्त प्रलय-वायु से पर्वताकार तरंगे आकाश में उत्थित होकर सैकड़ों वज्रों की ध्वनि के साय एक-दूसरे से टकराकर बिखर जाने लगीं। प्रलय मानो मूर्तिमान होकर पृथ्वीतल पर विचरण करने लगा।

राजा सत्यव्रत की स्वर्णनौका जब उत्ताल तरंगों पर सवार होकर उत्थित और पतित होने लगी, तब भयभीत होकर वे नारायण को पुकराने लगे। नारायण अनेक योजन में फैले

स्वर्णश्रृंगधारी मत्स्य के रूप में सागर के जल में आविर्भूत हुए। उनकी अंगज्योति से चारों दिशाएँ आलोकित हो उठीं। राजा निर्भयतापूर्वक अपनी स्वर्णनौका को श्री हरि के सिंग में बाँधकर निश्चिन्त हुए।

वर्षा करते करते मेघ समाप्त हो गये। निर्मल आकाश में सूर्योदय हुआ। धरातल पर जल के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। पवन स्थिर था, जल निस्तरंग था। सूर्य की किरणों से पृथ्वी एक काँच के गोलक के समान चमकने लगी। मनु की स्वर्णनौका में स्थित जीवगण आश्वस्त हुए।

तरंगहीन सागर के जल में चन्द्र-सूर्य के रंगों का खेल देखकर द्रविड़ेश्वर सौन्दर्याधार श्रीहरि के चिन्तन में डूब गये। ऊपर फैले निर्मल नील अनन्त आकाश तथा नीचे दिग्-दिगन्तव्यापी नील समुद्र ने उनके मन में भगवान के अनन्त भावों की स्मृति जगा दी। उन्हें लगा मानो वे एक आनन्दलोक में चिरमंगल के बीच विहार कर रह हों।

मत्स्यरूपी नारायण ने भावी मनुष्य के धर्म विषय पर मनु को अनेक वर्षों तक शिक्षा दी। अधर्म के विनाश तथा धर्म की स्थापना के लिए ही प्रयोजन के अनुसार वे विभिन्न रूप धारण किया करते हैं।

धीरे धीरे पृथ्वी के भू-भाग से पानी नीचे उतर आया। राजा सत्यव्रत ने उस पर वनस्पतियों के बीज बिखेर दिये। जलप्लावन से धरती के अत्यन्त उर्वर हो जाने के कारण शीघ्र ही वह फल-फूल से आच्छादित हो उठी। मनु जीवों के साथ भूमि पर उतरे। देखते ही देखते पृथ्वी पुनः जीव-जन्तुओं से परिपूर्ण हो उठी।

(आगामी अंक में 'कुर्म-चरित')

सारदा-वन्दन

'मधुप'

(दरबारी कान्हरा - रूपक)

ज्ञान देने जग में आई
सारदा जगदम्बिके ॥ ज्ञान. ॥

मोह तम का नाश करती
आर्त जन के त्रास हरती।
कर रही आलोक जग में
चारु चिन्मय चन्द्रिके ॥ ज्ञान. ॥

तुम्हीं राधा तुम्हीं सीता
यह धरा करने पुनीता।
विश्वजननी रूप में अब
रामकृष्ण-रंजिके ॥ ज्ञान. ॥

वासना से मुक्त करना
तेज बल से युक्त करना।
श्रेय पथ पर ले चलो माँ
शक्तिरूपिणी चण्डिके ॥ ज्ञान. ॥

श्रीरामकृष्ण और विद्यासागर

नित्यरंजन चट्टोपाध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी की दो अद्‌भुत प्रतिभाएँ ! इनमें से एक ने धर्मजगत् में क्रान्ति ला दी । देश उन दिनों अन्धविश्वासों से आच्छन्न था । धर्म मात्र अर्थहीन आचारों में परिणत हो चुका था । मनुष्य अपना मनुष्यत्व खो चुका था । ठीक उसी समय श्रीरामकृष्ण का आगमन हुआ । उन्होंने लोगों के समक्ष सर्वधर्म समन्वय की बात रखी, जीवरूपी शिव की सेवा को ही मनुष्य का धर्म बताया और जगत् को आशीर्वाद दिया – तुम लोगों में चेतना हो ।

और दूसरे थे अगाध पाण्डित्य के अधिकारी, करुणासिन्धु और समाज सुधारक । जब सारा देश अज्ञान के घटाघोप अन्धकार में डूबा हुआ था, हाथ में प्रज्ञा का प्रदीप लिए विद्यासागर ने घर घर में ज्ञान का आलोक जलाया । अज्ञान का अन्धकार मिटाया । सहाय-सम्बलरहित निर्धन लोग ही उनके सच्चे मित्र हुए ।

एक थे सत्याश्रयी, काम-कांचनत्यागी, ज्ञान व भक्ति के साधक और दूसरे थे पुरुषसिंह, दृढ़चेता तथा कर्मोद्यमी । दोनों का जन्म निर्धन परिवार में हुआ था और गरीबी में ही दोनों का बचपन बीता था । उनका जन्म पश्चिमी बंगाल के दो अख्यात गाँवों में हुआ था – एक का कामारपुकुर में और दूसरे का वीरसिंह में ।

श्रीरामकृष्ण ने केशव, महेन्द्र तथा नरेन के मुख से विद्यासागर के बारे में सुना था; उनके पाण्डित्य, करुणा, कर्मनिष्ठा, उद्यम तथा सामाजिक आन्दोलन के बारे में वे अवगत थे । वे मन ही मन विद्यासागर के बारे में सम्मान का भाव रखते थे और एक बार उनसे जाकर मिलने की भी उनकी इच्छा थी ।

विद्यासागर ने भी अपने ही विद्यालय के प्रधान शिक्षक महेन्द्रनाथ गुप्त के मुख से श्रीरामकृष्ण का नाम सुन रखा था। महेन्द्र को श्रीरामकृष्ण स्नेहपूर्वक 'मास्टर' कहते थे। विद्यासागर को समाचार-पत्रों में भी श्रीरामकृष्ण के बारे में पढ़ने को मिला था। परन्तु उनके प्रति विद्यासागर का कोई विशेष आकर्षण न था। एक बार अपने विद्यालय का परीक्षाफल सन्तोषजनक न होने पर उन्होंने मास्टर महाशय के प्रति कटाक्ष करते हुए कहा था, "तुम्हारे दक्षिणेश्वर ज्यादा आने-जाने के फलस्वरूप ही परीक्षाफल बिगड़ा है।" मास्टर महाशय ने इस बात को सहन न कर, प्रतिवाद भी किया था।

धर्म के विषय में विद्यासागर के मन में कोई शंका न थी। यद्यपि वे अपने पत्रों के ऊपर 'श्री हरिः शरणम्' लिखा करते थे, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उन्होंने कभी विचार नहीं किया था। उनकी पुस्तकों में भी ईश्वर के बारे में कुछ लिखा नहीं गया था। माता-पिता ही उनके लिए ईश्वर थे। एक बार वे अपने माता-पिता को साथ लेकर वाराणसी गये थे। उनका नाम सुनकर एक पण्डा उनके पास आए और उन्हें विश्वनाथ मन्दिर ले जाने का प्रस्ताव रखा। विद्यासागर ने उनसे कहा था, "मेरे घर में ही जीवन्त ईश्वर विद्यमान हैं। मुझे पत्थर के विश्वनाथ की आवश्यकता नहीं।" पण्डा उन्हें नास्तिक समझकर वापस लौट गए थे।

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के अनुरोध पर उन्होंने अपनी 'बोधोदय' पुस्तक में ईश्वर के बारे में लिखा था – "ईश्वर ने असंख्य चेतन, अचेतन तथा उद्भिद पदार्थों की सृष्टि की है, इसीलिए उन्हें सृष्टिकर्ता कहते हैं। ईश्वर निराकार चैतन्यस्वरूप हैं। उन्हें कोई देख नहीं सकता। वे सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हैं। हम जो कुछ भी करते हैं, वह सब वे देखते हैं। हम जो सोचते

हैं, उसे वे जान जाते हैं। ईश्वर परम दयालु हैं। वे समस्त जीवों के आहारदाता और रक्षक हैं।"

श्रीरामकृष्ण के जन्मकाल में उनकी जननी चन्द्रामणि देवी को विविध प्रकार के दिव्य दर्शन हुआ करते थे। उनके साधक पति खुदीराम ने गयाधाम की यात्रा से लौटने के बाद कहा था, "हमारे घर भगवान आ रहे हैं, इसीलिए यह दर्शन मिला है।" विद्यासागर के जन्म के दिनों में उनके माता-पिता को भी विविध प्रकार के रूप दर्शन हुए थे। उनके यहाँ भी एक ज्योतिषी ने आकर बताया था कि इस घर में एक महापुरुष आ रहे हैं।

श्रीरामकृष्ण के मन में विद्यासागर के प्रति आकर्षण था। बातचीत के दौरान एक दिन उन्होंने मास्टर से कहा – "अजी, विद्यासागर को देखने की बड़ी इच्छा होती है। इतने बड़े आदमी हैं! इतने दयावान हैं! उनमें ईश्वर की अभिव्यक्ति बहुत अधिक है। एक बार मुझे उनके पास ले चलो न!"

मास्टर महाशय उन्हें आश्वस्त करते हुए बोले – "आप चिन्ता मत कीजिए। वे व्यस्त आदमी हैं; उनके पास कब समय होगा यह पूछकर आपको साथ ले जाऊँगा।"

१८८२ ई. के ५ अगस्त को शनिवार का दिन।

शनिवार को अपराह्न के समय विद्यासागर प्रायः घर पर ही रहते हैं। उस समय वे विश्राम और लोगों के साथ भेंट-मुलाकात भी करते हैं।

श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर से घोड़ागाड़ी में चल पड़े। मास्टर महाशय, भवनाथ तथा हाजरा भी उनके साथ थे।

बादुड़बागान के पास पहुँचकर मास्टर महाशय ने एक बड़ा भवन दिखते हुए श्रीरामकृष्ण से कहा, "वह राजा राममोहन राय का मकान है।" परन्तु श्रीरामकृष्ण का ध्यान उधर नहीं गया, वे विद्यासागर के चिन्तन में विभोर थे।

उस समय शाम के चार बजे थे। गाड़ी बादुड़बागान पहुँचकर विद्यासागर के मकान के सामने जा खड़ी हुई। श्रीरामकृष्ण ने लाल किनारे की धोती और सूती कुरता पहन रखा है। धोती का एक छोर कन्धे पर पड़ा हुआ है। कुरते के बटन खुले हुए हैं, दृष्टि अन्तर्मुखी है।

मास्टर महाशय ने हाथ पकड़कर, श्रीरामकृष्ण को गाड़ी से उतारा। उनका बाह्यज्ञान लौटा। बोले, "कुरते के बटन खुले हुए हैं, इससे उन्हें कुछ बुरा तो नहीं लगेगा?"

मास्टर महाशय ने कहा, "नहीं, नहीं, आप इन सबके परे हैं। इसके लिए आपको चिन्ता करने की जरूरत नहीं।"

सामने की सीढ़ी दुमंजले पर सीधे उनके कमरे तक चली गई है। विद्यासागर वहीं बैठे थे। श्रीरामकृष्ण को देखकर वे उठ खड़े हुए। श्रीरामकृष्ण ने हाथ जोड़कर विद्यासागर को नमस्कार किया। विद्यासागर ने भी नमस्कार करके उन लोगों से बैठने का अनुरोध किया। उन्होंने मोटी धोती पहन रखी है, पाँवों में पालिश किया हुआ चप्पल और शरीर पर आधी आस्तीनवाला फलालेन का कुरता है। सिर का निचला भाग चारों ओर से मुण्डित है। बीच में एक बड़ी चोटी है और दाढ़ी-मूँछ नहीं है। गले में सफेद जनेऊ दीख रहा है।

श्रीरामकृष्ण ने एक गिलास पानी माँगा। विद्यासागर के निर्देश पर पानी और मिठाई भी लाई गई। थोड़ी सी मिठाई मुख में डालकर पानी पीने के बाद श्रीरामकृष्ण बोले, "इतने दिन नदी-नालों के पीछे घूमता रहा, आज सागर के पास आया हूँ। तुम्हारे इतने गुण हैं! तुममें इतनी दया है! इतने बड़े पण्डित हो तुम! इतने लोग तुम्हें मानते हैं! जिसको बहुत से लोग मानते हैं, उसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति ज्यादा होती है।"

विद्यासागर ने हँसते हुए कहा, "जब सागर के पास ही आए हैं, तो थोड़ा सा खारा पानी लेते जाइए।"

श्रीरामकृष्ण बोले, "खारा पानी क्यों, जी ? क्षीरसागर – दूध का समुद्र भी तो होता है। तुम वही हो। तुम्हारा कर्म सात्त्विक है। तुम सिद्ध (पक) हो गए हो। जानते हो न, आलू परवल पक जाने पर नरम हो जाते हैं। तुम नरम हो गए हो। इसीलिए तो तुममें इतनी दया है, इतनी करुणा है, लोग कहते हैं कि तुम करुणासिन्धु हो।"

विद्यासागर हँसते हुए बोले, "परन्तु पिसी हुई उरद की दाल तो पकने पर सख्त हो जाती है।"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "तुम बिल्कुल भी वैसे नहीं हो। जिनमें केवल पाण्डित्य है, वे अधपके फल के समान हैं – न इधर के और न उधर के। वे कहने को तो पण्डित हैं, पर उनकी कामिनी-कांचन पर घोर आसक्ति होती है। गिद्ध आकाश में उड़ते तो बड़ी ऊँचाई पर हैं, पर उनकी दृष्टि सड़ी-गली लाशों पर लगी रहती है।

"इस जगत् की सारी वस्तुएँ जूठी हो चुकी हैं, परन्तु ब्रह्म उच्छिष्ट नहीं हो सका है। आज तक मुख से कोई यह नहीं कह सका है कि ब्रह्म क्या है। नमक का पुतला समुद्र नापने गया था पर खबर देने को नहीं लौटा। ब्रह्मज्ञान होने पर भाषा लुप्त हो जाती है।"

"एक पिता के दो बेटे थे। पिता ने उन्हें ब्रह्मविद्या सीखने आचार्य के पास भेजा। कुछ वर्षों बाद वे गुरुगृह से लौटकर घर आए। पिता ने बड़े बेटे से ब्रह्म के बारे में पूछा। इस पर वह वेद-उपनिषदों से अनेक श्लोकों की आवृत्ति करने लगा। इसके बाद पिता ने छोटे पुत्र से वही प्रश्न किया। वह मौन रहा। पिता

ने उसकी ओर देखते हुए कहा, 'तुम्हीं ने थोड़ा सा समझा है। ब्रह्म क्या चीज है, यह मुख से नहीं कहा जा सकता।"

विद्यासागर इस पर आनन्दित होकर बोले, "कितनी सुन्दर बात है ! आज मैंने एक नई बात सीखी।"

श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "वह विभु के रूप में सब प्राणियों में है – चींटियों तक में है। परन्तु शक्ति का तारतम्य होता है – किसी में कम हैं तो किसी में अधिक। यदि ऐसा न हो तो तुम्हें क्यों इतने लोग मानते और मैं भी क्यों तुम्हें देखने आता ? क्या तुम्हारे दो सिंग निकले हैं ? . . . अच्छा तुम्हारा भाव क्या है ?

विद्यासागर मुस्कुराते हुए बोले, 'यह बात आपसे किसी दिन निर्जन में कहूँगा।'

इसके बाद श्रीरामकृष्ण भगवत्प्रेम में मतवाले होकर कुछ भजन गाने लगे, जिनका भावार्थ इस प्रकार है —

(१) कौन जानता है कि काली कैसी है ?
षड्दर्शनों तक को उनका दर्शन नहीं मिलता।

(२) माँ ! यदि 'दुर्गा' 'दुर्गा' जपते हुए मेरे प्राण निकलें,
तो फिर मैं देख लूँगा कि तुम मुझे कैसे नहीं तारती !

(३) रे मन ! तू अँधेरे में पागल के समान उनकी
खोज क्यों करता है ? वे तो भाव के विषय हैं,
क्या अभाव के द्वारा कोई उन्हें पकड़ सकता हैं। आदि।

गाते गाते श्रीरामकृष्ण समाधिमग्न हो गए – धीर, स्थिर मौन, स्पन्दनहीन, प्रशान्त मुख ! विद्यासागर एकटक उनकी ओर देखते रहे।

थोड़ी देर बाद श्रीरामकृष्ण की चेतना लौट आई। भजन सुनकर विद्यासागर भावविभोर हो उठे। उनके नेत्रों में जलबिन्दु भर आए।

इसी प्रकार सच्चर्चा करते हुए रात के नौ बज गए। श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर लौटने के लिए उठ खड़े हुए। विद्यासागर की ओर देखकर वे हँसते हुए बोले, "एक बार उधर आइए। रासमणि का बगीचा देख जाइएगा। बड़ी सुन्दर जगह है।"

विद्यासागर ने कहा, "जरूर ! आप आए और मैं आपके पास नहीं जाऊँगा ?"

घबड़ाकर श्रीरामकृष्ण बोले, "नहीं, नहीं, मेरे पास नहीं। हम लोग साधारण से आदमी हैं। हम छोटी छोटी किश्तियाँ हैं, जो नाले, नहर और बड़ी नदियों में भी जा सकती हैं। परन्तु आप हैं जहाज, हर जगह जाना कठिन है, परन्तु इस समय वर्षाकाल है।"

विद्यासागर हाथ में प्रदीप लिए आगे आगे रास्ता दिखाते हुए चल रहे हैं। श्रीरामकृष्ण भक्तों के साथ उनके पीछे हैं। बाहर घोड़ागाड़ी खड़ी थी। श्रीरामकृष्ण उसमें सवार हुए। विद्यासागर तथा अन्य लोगों ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया और गाड़ी दक्षिणेश्वर की ओर अग्रसर हुई।

बाद में विद्यासागर का दक्षिणेश्वर आना नहीं हो सका था। श्रीरामकृष्ण ने इस पर दुःख व्यक्त करते हुए कहा था - प्रविद्यासागर में सत्य के प्रति निष्ठा नहीं है। वह किताबों में लिखता है, 'सदा सत्य बोलो', परन्तु स्वयं ही उसका पालन नहीं करता। वचन देकर भी वह दक्षिणेश्वर नहीं आया।

विद्यासागर एक महामानव थे, अन्यथा युगावतार श्रीरामकृष्ण उनसे मिलने क्यों जाते ! माइकेल मधुसूदन दत्त ने उनके बारे में लिखा था - " The genius and wisdom of an ancient sage." - उनमें एक प्राचीन ऋषि के समान प्रतिभा एवं प्रज्ञा थी।

स्वामी विवेकानन्द की अमेरिका-यात्रा का शताब्दी समारोह

विश्वधर्मसभा में भाग लेने को स्वामी विवेकानन्द ३१ मई १८९३ ई० को विदेशयात्रा पर निकल पड़े और इसके साथ ही प्रारम्भ हुई मानव-इतिहास की एक महान दशाब्दी। तब से लेकर ४ जुलाई १९०२ ई० को उनकी महासमाधि तक उनका दस वर्षों का कार्यकाल महत्वपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण रहा। रामकृष्ण योगोद्यान मठ काकुड़गाछी (कलकत्ता) के तत्त्वावधान में विगत २१ मई से २ जून तक स्वामीजी के महासभा के लिए प्रस्थान करने की शताब्दी मनाई गई। स्वामीजी चाहते थे कि सभी धर्मों को सत्य मानकर मानव जाति के बीच एकता स्थापित की जाय। अतएव १९९३ से २००२ ई० के कालखण्ड को 'मानवता के एकीकरण की शताब्दी' के रूप में मनाया जा सकता है। स्वामीजी के सन्देश के प्रसार हेतु इस दौरान पड़ने वाली उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं (यथा – उनका भारत लौटना, रामकृष्ण मिशन की स्थापना आदि) की शताब्दियाँ मनाना उचित होगा। विश्वधर्म सभा के अन्तिम सत्र में स्वामीजी द्वारा दिया हुआ निम्नलिखित आह्वान इस 'मानवता के एकीकरण की शताब्दी १९८३ - २००२' के लिए भी आह्वान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है –

(१) संघर्ष नहीं, सहयोग

(२) विध्वंश नहीं , परभावग्रहण

(३) कलह नहीं , समन्वय तथा शान्ति

उपरोक्त समारोह के अवसर पर आकाशवाणी के नई दिल्ली केन्द्र ने ३१ मई , १९९३ ई० को अंग्रेजी में एक वार्ता प्रसारित की, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

सितम्बर १८९३ ई० में स्वामी विवेकानन्द द्वारा विश्वधर्मसभा में योगदान, न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण जगत् के लिए एक ऐतिहासिक अवसर था, क्योंकि स्वामीजी ने वहाँ सब धर्मों को सत्य मानकर स्वीकार करने का सन्देश दिया और दुनिया के लिए यह एक नई बात थी। इसके अतिरिक्त स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों में भ्रमण करते हुए एक धर्माचार्य की भी भूमिका निभाई। स्वामीजी के इन कार्यों ने सम्पूर्ण विश्व को भारत की आध्यात्मिक सम्पदा का बोध कराकर भारत को भी गौरवान्वित किया। स्वामीजी के धर्मसभा में भाग लेने की शताब्दी भारत के अतिरिक्त विश्व के अन्य अनेक स्थानों में मनाई जा रही है।

अपनी भारत-परिक्रमा समाप्त करने के बाद विश्वधर्मसभा में भाग लेने को स्वामीजी ने ३१ मई १८९३ ई० के दिन अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। वह दिन पूरे विश्व के लिए अत्यन्त महत्व का था। इस यात्रा के पूर्व स्वामीजी को एक दिव्य-दर्शन के द्वारा श्रीरामकृष्ण का आदेश मिला था। माँ सारदादेवी को दर्शन देकर भी श्रीरामकृष्ण ने यही इच्छा व्यक्त की थी, अतः इस यात्रा के लिए माता जी की भी सहमति मिली थी। स्वामीजी धर्ममहासभा में सम्मिलित होने के पूर्वाभास के रूप में उनकी अमेरिका-यात्रा का शताब्दी समारोह ३१ मई से २ जून १९९३ तक रामकृष्ण योगोद्यान मठ काँकुड़गाछी में आयोजित किया गया है।

समारोह का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। काँकुड़गाछी का यह रामकृष्ण योगोद्यान मठ १८८३ ई० में श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य श्री रामचन्द्र दत्त द्वारा स्थापित हुआ था। यह स्थान श्रीरामकृष्ण की चरणधूलि से धन्य हो चुका है और यहाँ उनके

भस्मास्थियों का भी एक अंश प्रतिष्ठित है । इस प्रकार यह समारोह स्थल ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्व रखता है ।

अपनी भारत-परिक्रमा के दौरान स्वामीजी ने न केवल अपने देश की आध्यात्मिक विरासत का आविष्कार किया, अपितु अपने देशवासियों के दुःख तथा अभावमय जीवन को भी देखा । इसीलिए तो उन्होंने कहा था, "निर्धन, अपढ़, अज्ञानी तथा पीड़ित – ये ही तुम्हारे ईश्वर हों; जान लो कि इनकी सेवा ही सर्वोच्च धर्म है ।" उन्होंने यह भी कहा था, "मैं गरीबों, अज्ञानियों और दलितों से प्रेम करता हूँ, प्रभु ही जानते हैं कि मैं उनके लिए कितना महसूस करता हूँ ।"

केवल अपने देशवासियों के प्रति ही नहीं, अपनी मातृभूमि के प्रति भी उनका प्रेम असीम था । भगिनी निवेदिता ने मातृभूमि के प्रति उनके इस लगाव का वर्णन करते हुए लिखा है – "उन्होंने हमें बताया कि जब वे पश्चिमी जगत् में थे तो कैसे एक बार फिर गोधूलि के समय एक भारतीय ग्राम की सीमा पर स्थित एक छोटी सी पगडण्डी पर खड़े शाम की पुकार सुनने को – तन्द्राच्छन्न बच्चों के क्रीड़ापूर्ण शोरगुल, घण्टी की आवाज, चरवाहों की हाँक तथा त्वरित विलीन हो रहे झुटपुटे के बीच खुसपुसहट की आवाज सुनने को उनका हृदय व्याकुल हो जाता था । और तब उन्हें देश के प्रति कितने विछोह का अनुभव होता था !"

अपने देश तथा देशवासियों के प्रति प्रेम ने उन्हें एक महान देशभक्त बना दिया था । देश के असंख्य स्वाधीनता-संग्रामियों तथा राजनीतिज्ञों ने उनके लेखों तथा व्याख्यानों से प्रेरणा ग्रहण की । इसी देशभक्ति से प्रेरित हो उन्होंने अमेरिका से स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा था, "जैसे हमारे देश में सामाजिक गुणों का अभाव है, वैसे ही यहाँ आध्यामिकता का अभाव है । मैं इन्हें

आध्यात्मिकता प्रदान करता हूँ और ये मुझे धन देते हैं ।" स्वामीजी को अपने लिए धन की आवश्यकता नहीं थी, वे तो अपने निर्धन तथा पददलित देशवासियों के लिए धन चाहते थे ।

अपने देश तथा देशवासियों के प्रेम से ही प्रेरित होकर उन्होंने २० सितम्बर १८९३ को धर्ममहासभा में कहा, "पूर्व का मुख्य अभाव धर्म नहीं है – उनके पास धर्म यथेष्ट है – जलते हुए हिन्दुस्तान के करोड़ों भूखे लोग सूखे गले से रोटी के लिए चिल्ला रहे हैं ।"

स्वामीजी का ३१ मई, १८९३ ई. को अमेरिका गमन, धर्ममहासभा में योगदान और धर्म-प्रचारार्थ उनका दौरा – आपस में विच्छिन्न घटनाएँ न थी । इन घटनाओं के लिए तैयारी मानो काफी काल से चल रही थी ।

स्वामीजी के मन की प्रवृत्ति वस्तुतः ध्यान में डूबे रहने की थी, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने पहले से ही विश्व में उनकी भूमिका सुनिश्चित कर दी थी । स्वामीजी द्वारा सतत ध्यान में डूबे रहने की अपनी हार्दिक आकांक्षा व्यक्त करने पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था, "वत्स, मैंने तो सोचा था कि तूने इससे भी कहीं महान उद्देश्य के साथ जन्म ग्रहण किया है ।"

श्रीरामकृष्ण अपनी अन्तिम बीमारी के समय काशीपुर के उद्यान-भवन में पड़े हुए अपने शिष्यों को उनके भावी कार्य के लिए प्रशिक्षित कर रहे थे । इसी दौरान एक दिन उन्होंने कागज का एक टुकड़ा मँगाकर उस पर लिखा कि नरेन (बाद में स्वामी विवेकानन्द) जगत् को शिक्षा देगा । इतना ही नहीं अपना शरीर त्यागने के तीन-चार दिन पूर्व उन्होंने नरेन को अपने पास बुलाकर बाकी सबको बाहर भेज दिया । इसके बाद जो हुआ उसका वर्णन करते हुए रोमाँ रोलाँ ने अपनी 'श्रीरामकृष्ण की जीवनी' में लिखा है कि श्रीरामकृष्ण ने "नरेन की ओर स्नेह

पूर्वक देखा और समाधि में डूब गए। इस समाधि ने नरेन को भी अपने दायरे में खींच लिया। चेतना लौटने पर नरेन ने देखा कि श्रीरामकृष्ण के आँसू बह रहे हैं।" श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "आज मैं तुझे सब कुछ देकर एक अकिंचन फकीर बन गया हूँ। इस शक्ति के द्वारा तू विश्व का परम कल्याण करेगा और यह कार्य पूरा न होने तक, तू लौट नहीं सकेगा।" यही थी वह शक्ति, जिसके साथ स्वामीजी ने अपनी भारत-परिक्रमा पूरी की और तदुपरान्त विश्वधर्मसभा में भाग लेने तथा पाश्चात्य जगत् में आचार्य की भूमिका निभाने को अमेरिका के लिए प्रस्थान किया।

श्रीरामकृष्ण द्वारा संचरित वह शक्ति ऐसी थी कि अपनी अमेरिका-यात्रा के कुछ काल पूर्व स्वामीजी ने अपने एक गुरुभाई को बताया, "अपने अन्दर मैं एक इतनी प्रबल शक्ति का अनुभव कर रहा हूँ कि लगता है मैं धधक उठूँगा। मेरे अन्दर इतनी शक्ति है कि मैं जगत् की कायापलट कर सकता हूँ।"

अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे न केवल धर्मसभा अपितु सम्पूर्ण आध्यात्मिक जगत् के समक्ष एक ज्वाला के समान प्रगट हुए और उन्हें अविलम्ब सफलता भी मिली। अमेरिका से उन्होंने स्वयं अपने गुरुभाइयों के नाम एक पत्र में लिखा है – "जो कुछ भी मेरे होठों से निकलता है – उसके पीछे श्री गुरुदेव रहते हैं।" अमेरिका से ही इसके पूर्व लिखे एक पत्र में उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द को बताया था – " मैं यंत्र हूँ और वे चालक हैं। इस यंत्र के माध्यम से वे इस सुदूर देश में हजारों लोगों के हृदय में धर्मभाव जगा रहे हैं।"

११ सितम्बर १८९३ ई० विश्वधर्मसभा के स्वागत के उत्तर में स्वामीजी ने वहाँ के लोगों को 'अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो' कहकर सम्बोधित किया जिसका उन लोगों पर विद्युत् के

समान असर हुआ। इसके साथ ही उन्होंने यह घोषणा की, "हम न केवल सार्वभौमिक सहनशीलता में विश्वास करते है बल्कि सब धर्मों को सत्य मानकर स्वीकार भी करते है" – यह "सब धर्मों को सत्य मानकर स्वीकार करना" – पाश्चात्य जगत् के लिए एक अभिनव सन्देश था।

१९ सितम्बर १८९३ ई० को अपने 'हिन्दू धर्म पर निबन्ध' के द्वारा स्वामीजी ने विश्वधर्मसभा को बताया, "बहुत्व में एकत्व ही प्रकृति की योजना है और हिन्दुओं ने इसे पहचाना है।" महासभा के अन्तिम सत्र में उन्होंने कहा, "यदि यहाँ कोई ऐसी आशा पालता हो कि यह एकता किसी एक धर्म के विजय तथा बाकी सब धर्मों के विनाश से सम्पादित होगी, तो उससे मेरा कहना है, 'भाई, तुम्हारी यह आशा असम्भव है।" और भी स्पष्ट करते हुए वे बोले, "ईसाई को हिन्दू व बौद्ध नहीं बनना होगा और न हिन्दू व बौद्ध को ईसाई ही। पर प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात करके भी अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी नीजी विकास के नियमानुसार वृद्धि को प्राप्त हो।" इसके उपरान्त उन्होंने घोषणा की, "साधुता, पवित्रता और दयाशीलता जगत् के किसी विशेष सम्प्रदाय की बपौती नहीं है और प्रत्येक धर्म ने अतिशय उन्नत - चरित नर-नारियों को उत्पन्न किया है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के बावजूद यदि कोई स्वप्न देखे कि एक मात्र उसी का धर्म बचा रहेगा और अन्य धर्मों का विध्वंश हो जाएगा तो मुझे अपने अन्तर्हृदय से उस पर दया आती है और मैं उसे स्पष्ट रूप से बताए देता हूँ कि समस्त प्रतिरोधों के बावजूद शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा होगा – 'संघर्ष नहीं, सहयोग; विध्वंश नहीं, परभावग्रहण; कलह नहीं, समन्वय और शान्ति'।"

स्वामीजी ने महासभा के समक्ष सार्वभौमिक धर्म की अपनी अवधारणा प्रस्तुत करते हुए कहा, "वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा; वह उस ईश्वर के समान ही असीम होगा, जिसका वह उपदेश देता है; जिसका सूर्य श्रीकृष्ण तथा ईसा के अनुयाइयों पर, सन्तों तथा पापियों पर समान रूप से प्रकाश विकिरित करेगा; जो न तो हिन्दू होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न मुसलमान, बल्कि इन सबकी समष्टि होगा, और इसके बावजूद जिसमें विकास के लिए अनन्त स्थान होगा; जो इतना उदार होगा कि उसके असीम बाहुओं में प्रत्येक मनुष्य के लिए स्थान होगा।" अन्ततः उन्होंने बताया, "मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ जो सभी मनों को स्वीकार्य होगा; जो दार्शनिक, भावुक, अतीन्द्रियवादी तथा कर्मठ लोगों के लिए समान रूप से उपयोगी होगा।"

स्वामीजी दृष्टि में "अनुभूति ही धर्म है; न कि बातें मतवाद या सिद्धान्त – फिर वे चाहे जितने मोहक क्यों न हों। यह होना और बनना है, न कि सुनना और स्वीकार करना; यह सम्पूर्ण जीवात्मा का अपने विश्वासों के अनुरूप रूपान्तरण है।" और "सभी धर्मों का लक्ष्य आत्मा में ईश्वर की उपलब्धि करना है और यही एक सार्वभौमिक धर्म है। यदि सभी धर्मों में कोई एक सार्वभौमिक तत्त्व हो, तो मैं उसे आपके समक्ष रखता हूँ – वह है ईश्वर की प्राप्ति। आदर्शों एवं पद्धतियों में भेद हो सकता है, परन्तु केन्द्रीय तत्त्व यही है।"

स्वामी विवेकानन्द चाहते थे कि विज्ञान के समान ही धर्म की भी कुछ विशेष पद्धतियों से परीक्षा की जाय। उन्होंने कहा, "विज्ञान की हर शाखा के समान ही क्या धर्म को भी युक्ति की खोजों के माध्यम से अपने को सत्य प्रमाणित करना होगा ? विज्ञान तथा बाह्य ज्ञान के लिए शोध की जिन पद्धतियों का

उपयोग होता है, क्या धर्मविज्ञान के लिए भी उन्हीं का उपयोग होगा ? मेरे ख्याल से ऐसा ही होना चाहिए और मुझे ऐसा भी लगता है कि यह जितना जल्दी हो उतना ही अच्छा। न केवल इसे वैज्ञानिक बनाया जा सकता है – कम से कम उतना ही वैज्ञानिक, जितने कि भौतिक या रसायनशास्त्र के निष्कर्ष है – बल्कि यह उनसे भी अधिक सशक्त होगा, क्योंकि धर्म की सत्यता की साक्ष्य देनेवाला एक आन्तरिक तत्त्व भी है, जिसका भौतिक या रसायन शास्त्र में अभाव है।"

स्वामीजी किस कारण धर्म को परीक्षण के दायरे में लाना चाहते थे ? इसलिए कि धर्म का उद्देश्य है ईश्वर की अनुभूति। वही चरम लक्ष्य है। उन्हीं के शब्दों में, "ईश्वर सत्य है" और "चरम सत्य केवल एक है।" अतएव जो धर्म इस चरम सत्य तक पहुँचने की क्षमता रखता है वह निश्चय ही इन वैज्ञानिक परीक्षणों में खरा उतरकर आधुनिक मस्तिष्क को सन्तुष्ट कर सकेगा।

धर्म महासभा में भाग लेने तथा पाश्चात्य जगत् में एक धर्माचार्य की भूमिका निभाने हेतु स्वामी जी की इस अमेरिका-यात्रा के पीछे एक उद्देश्य निहित था और वह था – अपने सब धर्मों की सत्य रूप में स्वीकृति के सन्देश को प्रचारित कर तथा विश्व में आध्यात्मिकता जगाकर मानवमात्र को एक सूत्र में गठित करना।

धार्मिक सहकारिता, धार्मिक एकता एवं धार्मिक सहिष्णुता की आवश्यकता के विषय में जगत् काफी कुछ सुन चुका है। ये सभी प्रसंशनीय उद्देश्य हैं। परन्तु इन सबकी भी एक सीमा है, एक चरम बिन्दु है; ये चिरकाल तक टिके नहीं रह सकते।

श्रीरामकृष्ण ने हमें 'जितने मत उतने पथ' का सन्देश दिया है। एक बार यह सन्देश रूपायित हो जाय, तो अपने आप ही

सब धर्मों को सत्य रूप में स्वीकृति मिल जायेगी । स्वीकृति में कोई सीमा नहीं होती । अतएव सब धर्मों को सत्य रूप में स्वीकृति मिल जाने पर संघर्ष का कारण ही लुप्त हो जायेगा । हिंसा एवं संघर्ष से त्रस्त आज के विश्व की यही आवश्यकता है । हममें आध्यात्मिकता जाग्रत हो जाने पर हम 'सब धर्मों की सत्य रूप में स्वीकृति' से अग्रसर होकर इस तत्त्व तक पहुँचेंगे कि 'वह एक अपरिवर्तनीय वस्तु ईश्वर है ।' मानवता को एकता के सूत्र में बाँधकर इस जगत् को निवास का एक बेहतर स्थान बनाने और इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के जीवनोद्देश्य को पूरा करने का यही एकमेव मार्ग है । स्वामीजी के शब्दों में, "ईश्वर उन्हीं की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं ।" आइए हम स्वामीजी का कार्य पूरा करने में स्वयं अपनी सहायता में जुट जायँ ।

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक प्रतिवेदन का सार-संक्षेप

रामकृष्ण मिशन का ८३ वाँ आम वार्षिक सम्मेलन बेलुड़ मठ में रविवार, २० दिसम्बर १९९२ को अपराह्न ३.३० बजे सम्पन्न हुआ । रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने सम्मेलन की अध्यक्षता की । मिशन के सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत की गई शासी-निकाय के रीपोर्ट (१९९१-९२) का सार-संक्षेप इस प्रकार है –

राहत एवं पुनर्वास कार्य : आलोच्य वर्ष में रामकृष्ण मिशन ने रू. ६० ३७ लाख व्यय करके आसाम, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा देश के अन्य भागों में बड़े पैमाने पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य किए । इसके अतिरिक्त लगभग ३४ लाख रुपयों की राहत-सामग्री भी पीड़ितों के बीच वितरित की गई ।

कल्याण कार्य : निर्धन छात्रों तथा रोगियों, वृद्ध तथा असहाय नर-नारियों और ग्रामीण अंचलों के सहस्रों गरीब परिवारों को सफाई की सुविधा उपलब्ध कराने में मिशन ने १ करोड़ ४६ लाख रुपये व्यय किए। कलकत्ते की रामबागान बस्ती में चल रहा गृहों का पुनर्निर्माण कार्य तथा पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर जिले में स्वच्छता अभियान इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं।

चिकित्सा कार्य : मिशन ने अपने ९ अस्पतालों तथा चल - चिकित्सालयों सहित ७८ डिस्पेंसरियों के माध्यम से सराहनीय चिकित्सा-कार्य किये। करीब ६.०५ करोड़ रुपये व्यय करके ४४ लाख से भी अधिक की सेवा की गयी।

शैक्षणिक कार्य : हमारे शिक्षण संस्थानों के परीक्षा-फल पूर्ववत् ही बहुत अच्छे रहे। मिशन ने ९,०४४ शिक्षण संस्थानों का संचालन किया, जिसमें शिक्षार्थियों की कुल संख्या १,८५,०३४ थी। इस कार्य में मिशन ने २३.९२ करोड़ रुपये की राशि व्यय की।

ग्रामीण एवं जनजाति कल्याण : २.६५ करोड़ रुपये खर्च करके मिशन ने देश के कई ग्रामीण एवं जनजाति इलाकों में वृहत् पैमाने पर कार्य किये।

विदेशों में कार्य : हमारे विदेश-स्थित केन्द्र मुख्यतः धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहे।

देश एवं विदेशों में, प्रधान केन्द्र के अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन एवं रामकृष्ण मठ के क्रमशः ७९ एवं ७६ शाखा-केन्द्र थे।

स्वामी आत्मस्थानन्द

महासचिव